

No - 057543

Lo - 43 - 13 8
14



श्रमणा

सि
त
म्ब
र



वाराणसी-५

१
६
६
६

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

जै ना श्र म

हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५

सम्पादक

डा० मोहनलाल मेहता

प्रस्तुत अंक में—

- | | |
|---|----|
| १. अभिलाषा—फूलचन्द 'मानव' | १ |
| २. श्वेताम्बर जैनों की पूजा-विधियों का इतिहास
—श्री कस्तूरमल बाँठिया | २ |
| ३. कुमार-सिंह वार्ता - श्री फिल्टर | १५ |
| ४. वीरनन्दी और उनका चन्द्र प्रभचरित—पं० अमृतलाल शास्त्री | १८ |
| ५. पञ्चमचरियं : संक्षिप्त कथावस्तु - डा० के० रिषभचन्द्र | २६ |
| ६. यज्ञ : एक अनुचिन्तन—श्री सुदर्शनलाल जैन | ३१ |
| ७. अपनी बात— | ३९ |
-

वार्षिक
पाँच रुपये

एक प्रति
पचास पैसे



जैनविद्या का मासिक

वर्ष १७

सितम्बर १९६६

अंक ११

अभिलाषा

मुखर धरा पर श्रमण संस्कृति सदा सर्वथा जय हो ।

श्रमणोपासक के अंचल का अभिनव पाद अभय हो ॥

अन्यालौकिक अल्प-तरु प्रत्याशित शुभ सुख दाता,
दर्पण धर्म-मर्म निहित यह शान्ति-पथ-निर्माता ।

हर्षित उर कोमल कल्पों की मधुर मनोरम वाणी,

बहुविस्तृत अविस्मृत आभा करुणामय कल्याणी,

नित्य नया नवनीत कथ्य में परिपूरित अक्षय हो ।

श्रमण-संघ के सुमनाञ्जल का हर पग सदा अभय हो ॥

फूलचन्द 'मानव'

श्वेताम्बर जैनों की पूजा-विधियों का इतिहास

श्री कस्तूरमल बांठिया

(गतांक से आगे)

नित्यस्नान और आनुषंगिक विधियाँ :

विक्रमी चौथी शती से साधुओं में शिथिलाचार भले ही प्रवेश करता कहा जाए, परन्तु चैत्यवास की जड़ तो इससे भी पहले जम गई थी और वीरात् ८८२ तक उसकी सार्वत्रिक प्रवृत्ति हो गई थी सर्वोपचारी पूजा एवं जिनमंदिर बनाने व उनमें जाकर जिनमूर्ति के दर्शन-पूजन के माहात्म्य का उपदेश गृहस्थों को दिया जाने लगा था जैसाकि विमलसूरि के 'पउमचरिय' में द्युतिमुनि द्वारा भरत को दिए गए उपदेश से स्पष्ट प्रतीत होता है। श्री विमलसूरि, यद्यपि उनका समय अभी तक भली-भाँति निश्चित नहीं हुआ है फिर-भी मध्यकाल याने वीरात् १००० के आसपास होना ही चाहिए। परन्तु फिरसे इस बढ़ती प्रवृत्ति को पूर्वकालिक कदाचित्क नहीं किया जा सकता था इसलिए द्रव्यस्तव और भावस्तव का विवेक भी इसी अवधि में समझाया जाने लगा था और यह भी कि द्रव्यस्तव करनेवाला अधिक से अधिक बारहवें देवलोक तक ही जा सकता है जबकि भावस्तव करनेवाला उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर सकता है। यह विवेक समझानेवाले इस अवधि के जैनाचार्यों में अग्रणी हैं याकिनीमहत्तरासूनु हरिभद्रसूरि जिनका सत्ताकाल विक्रमी ८ वीं सदी सर्वमान्य हो चुका है। इन्होंने 'पूजाष्टक', 'पूजाविशिका', 'ललित-विस्तरा', 'षोडशक', 'पूजापंचाशक', 'योगविन्दु', 'पंचवस्तुक', और 'धर्मविन्दु' सभी में जिनपूजा कैसे करना चाहिए और वह क्या है, इस पर अच्छा प्रकाश डाला है। 'पूजाष्टक' में अशुद्ध और शुद्ध भेद से दो प्रकार की अष्टपुष्पी पूजा बताई है जो क्रमशः स्वर्ग और मोक्ष की साधिका है। 'पूजाविशिका' में 'समन्तभद्रा', 'सर्वमंगला' और 'सर्वसिद्धिफला' ऐसी तीन प्रकार की द्रव्यपूजा का विवेचन किया है। 'ललितविस्तरा' में 'पुष्प-नैवेद्य-स्तोत्र और आत्मसमर्पण—इन चार प्रकार की पूजाओं का निरूपण है

और देशविरत श्रावक को चारों प्रकार की पूजा करनी चाहिए और सराग संयमी सर्वविरत साधु को स्तोत्र और आत्मसमर्पण याने प्रतिपत्ति पूजा करनी चाहिए, ऐसा कहा है। 'षोडशक' में लिखा है कि जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा होने के बाद आठ दिन पर्यन्त उनकी निरन्तर पूजा करनी चाहिए और शक्त्यानुसार सब जीवों को दान देना चाहिए। यहाँ विघ्नोपशमनी, अम्युदय-साधनी और निर्वाणसाधनी नाम की तीन प्रकार की पूजाओं का निरूपण है। 'पूजापंचाशक' की दूसरी गाथा में ही कहा है कि विधि से की जानेवाली जब सभी चेष्टाएँ फलवती होती हैं और इस लोक संबंधी प्रवृत्तियाँ भी सफल होती हैं तब 'जिनपूजा' जो उभय लोक हितकारक है, का तो कहना ही क्या ? फिर गाथा बारह में कहा है कि अन्यत्र आरम्भ करनेवाले मनुष्य को धर्म में अनारम्भ की बात करना अज्ञान है। इससे लोक में जिनशासन की निन्दा होती है और भवान्तर में बोधिदुर्लभता के दीष लगते हैं। १४ और १५वीं गाथा में कहा है कि 'गंध, सुगन्धिधूप, सर्वाँषधि, सुगंधजल, आदि चित्र पदार्थों से, सुगन्धि विलेपनों, श्रेष्ठ पुष्पमालाओं और नैवेद्य, दीपक, सिद्धार्थक, दधि, अक्षत, गौरोचन आदि में से जो प्राप्त हों, उनसे अथवा सुवर्ण आभूषण, मौक्तिक मालाओं, रत्नमालाओं आदि विविध पदार्थों से जिनपूजा करनी चाहिए। श्रेष्ठ पूजा-साधनों से बहुधा भाव भी श्रेष्ठ हो जाता है और उपरोक्त पूजा-द्रव्यों का इससे बढ़िया दूसरा कोई उपयोग भी नहीं है (१६)। इसलिए अन्य चेष्टाओं से मुक्त होकर बुद्धिमान पुरुषों को अपने विभवानुसार श्रेष्ठ जिनपूजा करनी चाहिए और उसमें पूज्य का बहुमान करना चाहिए (१८)।

'योगबिन्दु' में भी चार प्रकार की पूजा का निरूपण है और कहा है कि शोभन पुष्पों, नैवेद्यों, वस्त्रों और स्तोत्रों से शौच-श्रद्धा-पूर्वक देवताओं का पूजन करना चाहिए।

हारिभद्रीय 'समराइचकहा' में भी दो जगह पर पूजा के अधिकार आए हैं। उनमें पुष्पवृष्टि, पुष्पपूजा, और धूप-दीप का निर्देश है परन्तु स्नान-विलेपन का नहीं।

'कुवलयमाला-कथा' में भी गंध, कुसुम, नैवेद्य और प्रदीप से पूजा करने की बात है।

'पंचवस्तुक' में हरिभद्रसूरि ने प्रतिष्ठा कराने के पश्चात् ऐसी जिनप्रतिमा की गृहस्थ प्रतिदिन शक्त्यानुसार और नियत समय में शुभ गंध, धूप, जल,

तथा सर्वोषधि आदि से तथा कुंकुम-विलेपन और अच्छी सुगंधी मनोहर पुष्पमाला से पूजा करे, ऐसा कहा है। यह उनके षोडशक के पूजाविधान से कुछ विमुख जाता है, परन्तु कदाचित् प्रचलन में आई प्रथा को मान्य करने का ही यह प्रयत्न है। दोनों में से कौन पहले लिखा गया और कौन पीछे, इस स्थिति पर प्रकाश पड़ सकता है। 'पंचवस्तुक' में यह भी कहा है कि "विविध नैवेद्य, आरती और धूप आदि कर विधिपूर्वक चैत्यवन्दन करे और शक्त्यनुसार गीत, वादित्त, नर्तन और दान आदि भी उस प्रसंग पर करे। उपर्युक्त अनुष्ठान गृहस्थ के लिए विहित है। हमेशा इस प्रकार करते हुए श्रावक को इस लोक के फल की आशा न करने से आगे जाकर यह पूजा चारित्र्य का भी हेतु हो सकती है।"

'धर्मबिन्दु' में कहा है कि "श्रावक को जिनपूजापूर्वक भोजन करना चाहिए। वृत्तिकार मुनिचन्द्रसूरि ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि जिन-पूजा पुष्प-धूप आदि के उपचार से और साधु-साधमिकों की पूजा अन्न-पान प्रदानादि से करके भोजन करना चाहिए।"

इस मध्यमकाल के अन्य आचार्यों का नाम ही यहाँ देना पर्याप्त होगा जिनके पूजाविधि-विस्तार के उद्धरण दिए गए हैं। ये हैं क्रमशः 'जिनस्नात्रविधि' रचयिता श्रीजीवदेवसूरि, 'संवेगरंगशाला' रचयिता श्रीजिनचन्द्रसूरि (वि० ११२५), 'धर्मरत्नकरंडक' लेखक श्री वर्धमानसूरि (वि० ११७२), 'दशनंशुद्धि' रचयिता श्री चन्द्रप्रभसूरि (पौर्णमिकगच्छ संस्थापक), 'विजयचन्द्रकेवलीचरित्रकार' श्री चन्द्रमहत्तरजी, 'चैत्यवन्दनमहाभाष्यकार' श्री शांतिसूरि, 'दोषट्टी' टीकाकार श्री रत्नप्रभसूरि, 'कथारत्नकोश' रचयिता श्रीदेवभद्रसूरि, 'प्रवचनसारोद्धार' लेखक श्री नेमिचन्द्रसूरि, कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य और 'कुमारपालप्रतिबोध' लेखक श्री सोमप्रभसूरि। मुनिश्री कल्याणविजयजी इन सबके उद्धरण देकर कहते हैं कि "मध्यकाल के लगभग प्रारम्भ में होनेवाले आचार्य श्रीहरिभद्रसूरि जी के ग्रन्थों से लेकर मध्यकाल के उपरान्त में होनेवाले आचार्य श्रीसोमप्रभसूरि जी तक के मध्यकालीन तमाम आचार्यों के ग्रन्थोक्त पूजाविषयक उल्लेखों से ही पाया जाता है कि इनके समय में पूर्व-विशेष में होनेवाली 'सर्वोपचारीपूजा' के सिवाय अन्य किसी भी प्रकार की पूजा में स्नान और विलेपन का विधान नहीं पाया जाता है। आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी के 'स्तव-विधि-पंचाशक' की २६ वीं 'इत्तो च्चिय फुल्लामिस'

गाथा में पुष्प, नैवेद्य, स्तुति और प्रतिपत्ति इन चार प्रकार की पूजाओं में अन्तिम 'प्रतिपत्ति' पूजा आत्मनिवेदनरूप होने से सर्वश्रेष्ठ कही है क्योंकि नित्य होने से इसका अन्य आचार्यों ने भी गुरुत्व माना है, तब पुष्पादि पूजाएँ कदाचित्क होने से उसकी अपेक्षा हीन हैं। 'पूजापंचाशक' की १४ और १५ वीं गाथाओं में सूचित द्रव्यों में भी प्राथमिक रूप से गन्ध, धूप आदि का ही ग्रहण है। इससे भी सिद्ध होता है कि उस समय पूजा में नित्यस्नान को स्थान नहीं था" (पृ० ४६)।

'नित्यस्नान-विलेपन' का परिणाम अनिष्टकारी हुआ यदि ठीक हो तो पूर्वाचार्यों ने इस अनिष्ट परिणाम का विचार क्यों नहीं किया ? इस शंका का उत्तर देते हुए मुनिश्री कहते हैं कि "किसी भी प्रवृत्ति का परिणाम उसके जन्म समय में जाना नहीं जा सकता। जब वह मूर्तरूप में प्रगट होता है, तभी उसकी ओर किसी का ध्यान जाता है।" इसका उदाहरण यहाँ उद्धरणीय है। मुनिश्री कहते हैं कि "सूत्रकाल में प्रतिक्रमण का आरम्भ" 'करेमि भंते' के पाठ से होता था और "नमोस्तु वर्धमानाय" स्तुति पढ़ने के बाद वह समाप्त होता था। परन्तु श्रावकों के साथ प्रतिक्रमण करने की प्रवृत्ति जब चालू हुई तब से श्रावकों के 'सामायिक' का समय पूरा करने के उद्देश्य से स्तुतियों के उपरान्त "नमोत्थुणं स्तवन" और "देवसिअपायच्छित्त" का कायोत्सर्ग आदि विधान बढ़ाए। फिर भी कालान्तर में 'सामायिक का काल पूरा न होता देख' स्वाध्याय, दुक्खक्खय-कम्मक्खय" का कायोत्सर्ग, शांतिकथन आदि विधान नए-नए बढ़ते गए। इन सब क्रिया-प्रक्षेपों का परिणाम यह हुआ कि 'प्रतिक्रमण' के सूत्र "पायसमा उसासा" शास्त्रीय नियम के अनुसार बोलने के बदले में बड़ी शीघ्र गति से बोलकर 'प्रतिक्रमण' से मुक्त होने की प्रवृत्ति चल पड़ी जिसके परिणाम स्वरूप 'प्रत्येक सूत्र के अर्थ का उपयोग रखने से जो मानसिक भावनाएँ उत्पन्न होती थीं, वे समाप्त हो गईं।' प्रतिक्रमण में उक्त प्रकार के विधिप्रक्षेप के बदले शास्त्रोक्त विषय के अनुसार सूत्रों के उच्चारण करने का दृढ़ता से पालन किया जाता तो आज का प्रतिक्रमण-विधान जो फोनोग्राफ के रेकार्ड के समान हो गया है, वह नहीं होता। परन्तु प्रारम्भिक प्रक्षेपकारों ने यह परिणाम होगा, ऐसा न जानकर ही प्रक्षेप किए थे। यदि परिणाम सोचा होता तो प्रतिक्रमण विधियों में इतने प्रक्षेप कभी नहीं होते" (पृ० ५३-५४)।

श्रीसोमप्रभसूरि ने 'कुमारपाल-प्रतिबोध' में राजा कुमारपाल से 'कुमर-विहार' में विदेशों से आए हुए धनाढ्यों के समक्ष कनकमय कमलों से गुरु-चरण-

कमलों की पूजा का उदाहरण देकर उस काल में चैत्यवासियों द्वारा अपनी नवांगी पूजा कराने का ही समर्थन नहीं किया है अपितु आज के शिथिल साधुओं की एषणा को भी प्रोत्साहन दे दिया है और कुछ साधु इस प्रकार अपनी नवांगपूजा कराते भी देखें और सुने जाते हैं जो सर्वथा अनुचित और निषेधनीय है। इनके बाद के 'श्राद्धदिनकृत्य', 'देववन्दनभाष्य', 'अनन्तनाथ चरित्र', 'पूजाप्रकाश', 'देवपूजाविधि' और 'विचारसार-प्रकरण' में जलपूजा का विधान पाया जाता है जो अर्वाचीन काल में अपनी चरम सीमा को पहुँच गया है। आचार्य श्री हेमचन्द्र (कलिकालसर्वज्ञ) ने 'योगशास्त्र' की स्वोपज्ञ टीका में एक प्राचीन पद्य उद्धृत कर "जल से भरे पात्रों से जिनेश्वरदेव की अष्टप्रकारी पूजा करते हुए गृहस्थ जल्दी ही परमपद के सुख समूह को प्राप्त करता है", विक्रमी १३ वीं सदी में 'नित्यस्नान' को समर्थन दिया जिससे पाटण के समृद्ध गृहस्थों के घर-मंदिरों में यह प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई और इसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि जिस पाटण में १९ वीं शती में गृहमंदिरों की संख्या ५०० थी, वह घटकर आज ३० से भी कुछ कम रह गई है। घर-मंदिरों के स्थान में सार्वजनिक भक्ति-मंदिरों की संख्यावृद्धि का भी यह एक कारण है जो ११-१२ वीं शताब्दी से तेजी के साथ बढ़ रहे हैं।

अर्वाचीन-काल याने वीरात् २००० (वि० सं० १५३०) से अब तक :

इस काल में उच्च कोटि की शास्त्र रचनाएँ अधिक नहीं हुईं, परन्तु जो हो चुकी थीं उनकी नई व्याख्याओं से नित्यस्नान, भक्तिमंदिर और जिनबिम्बों का निर्माण अति को पहुँच गया और धर्म के प्रधान लक्षण 'उपयोग' और 'जयणा' की अधिक से अधिक क्षति होती रही थी। इस काल की जिन रचनाओं में जिनपूजा का वर्णन मिलता है वे हैं—चारित्रसुन्दरगणि का 'आचारोपदेश', उपाध्याय मानविजयजी का 'धर्मसंग्रह', और जिनलाभसूरि का 'आत्मप्रबोध'। मुनिश्री कहते हैं कि 'स्नान को अठारहवीं सदी के उतार में पूजा का रूप मिला है। पहले इसका याने जल पूजा का नम्बर आठवां था और उसमें जल का पात्र भरकर आगे रखते थे। अब उसको हटाकर स्नान को ही जलपूजा मान लिया। १९ वीं सदी में और बाद में लोकभाषा में जो पूजाएँ बनी हैं उनमें स्नान को भी पूजा माना है और जलपात्र आगे रखने की चर्चा तक नहीं है"। इसी काल में 'तिलकपूजा' का भी प्रारम्भ हुआ। 'आचारोपदेश' में लिखा है कि 'दोनों पैरों, दोनों जानुओं, दोनों हाथों और दोनों कंधों एवं मस्तक पर

क्रमशः चन्दन और केशर से प्रथम पूजा करनी चाहिए फिर ललाट, कंठ, हृदय और पेट पर तिलक करने चाहिए । 'धर्मसंग्रह' में सत्रह-भेदी पूजासूचक गाथाओं के नीचे 'त्रिकाल पूजा करने संबंधी' दो श्लोक उद्धृत हैं जिनमें 'नवतिलकों से निरन्तर जिनपूजा करना चाहिए' लिखा है, परन्तु नवतिलक कहाँ किए जाएँ, और किस द्रव्य से, इस विषय में श्लोक मौन हैं । इन श्लोकों में कहा है कि प्रभात में वासपूजा करे, मध्याह्न में पुष्पों से और संध्या को धूप तथा दीप से पूजा करे । मुनिश्री कहते हैं कि 'धर्मसंग्रह' के निर्माण समय तक विलेपन पूजा के स्थान में 'नव तिलक' करने की पद्धति प्रचलित हो चुकी थी, फिर भी 'तिलक-पूजा' का समय सूचित नहीं किया, यह एक रहस्यपूर्ण हकीकत है । इसका रहस्य यह है कि प्रभात, मध्याह्न और शाम की पूजा के समय का प्रतिपादन करने के श्लोक प्राचीन हैं जिन्हें उपाध्यायजी ने वैसे के वैसे उद्धृत कर दिए हैं । इससे ज्ञात होता है कि 'नव तिलकों' का प्रतिपादन करने वाले प्रथम श्लोक का पूर्वार्ध और धूपदान बतानेवाले द्वितीय श्लोक का उत्तरार्ध, दोनों ही या तो उपाध्यायजी के अपने हैं अथवा इनके पूर्ववर्ती किसी अर्वाचीन विद्वान् के होने चाहिए और पहले दूसरे श्लोकों के क्रमशः उत्तरार्ध पूर्वार्द्ध प्राचीन श्लोकों के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध होना चाहिए । परन्तु यह 'तिलक-पूजा' भी विवाद का कारण कालान्तर में बन गई । पर इसकी चर्चा करने से पूर्व यह जान लेना जरूरी है कि नित्य-स्नान ने कौनसी-कौनसी नई समस्याएँ उपस्थित कर दीं ।

भक्तिचैत्यों में वेतनभोगी पुजारी आवश्यक हो गए :

जब तक नित्य-स्नान जिनपूजा का आवश्यक अंग नहीं बना था, तब तक कोई समस्या ही नहीं थी । मूल नायक और अन्य प्रतिमाओं में कोई अन्तर नहीं था । पर जब नित्य-स्नान कराया जाने लगा तो समस्या यह उपस्थित हुई कि मूलनायकजी को ही नित्य-स्नान क्यों ? औरों को क्यों नहीं ? परन्तु सर्वोपचारी पूजा का यह मार्ग जनसाधारण के लिए महंगा पड़ने लगा । उसके लिए वेतनभोगी नौकर रखना आवश्यक हो गया । इसलिए गृहमन्दिर उठाए जाने लगे और उनकी प्रतिमाएँ भक्तिचैत्यों में पहुँचने लगीं परन्तु वहाँ भी तो कोई मूर्तियाँ अपूज्य रह नहीं सकती थीं । इसलिए इन भक्तिचैत्यों में वेतनभोगी कई तरह के कर्मचारी अलग-अलग कामों के लिए रखने आवश्यक हो गए और इसके लिए देवद्रव्य की वृद्धि के नए-नए मार्ग खोजे जाने लगे । इन्द्रमालो-द्घाटन आदि की उच्छरावलियाँ बोलवाने का प्रचार हुआ । परन्तु बढ़ते खर्च का

निर्वाह इससे भी नहीं होने लगा तो किसी आचार्य ने 'पूजा-प्रकरण' नाम से एक २५ श्लोकी रचना ही कर डाली और इसने 'इक्कीस प्रकारी' नई पूजा को जन्म दिया जिनमें की एक पूजा है 'कोशवृद्धि' नाम की। यह इस आशय से रखी गई कि इसको पढ़ाने वाले चढावे बोलकर देवद्रव्य की वृद्धि करेंगे। मुनिश्री कहते हैं कि 'इस पूजा का निर्देश विशतिस्थानकविचारसंग्रह' और 'श्राद्धविधि-कौमुदी' में मिलता है जिनकी रचना क्रमशः वि० सं० १५०२ और १५०६ में हुई है। इनके पहले के किसी ग्रन्थ में 'पूजा-प्रकरण' का उल्लेख देखने में नहीं आया। इनके विषय में कहा है कि ऐसी पूजा देव-दानवों ने सदाकाल की थी। परन्तु कलिकाल के दोष से कुबुद्धि मनुष्य इनका खण्डन करते हैं, इसलिए भक्तों को भावना के अनुसार इनमें पदार्थों का उपयोग करना चाहिए। इसी के आधार पर १७ वीं सदी में सकलचन्द्रजी ने भाषापद्यों में सत्रह-भेदी की तरह इक्कीस प्रकारी पूजा रच दी। परन्तु इन दोनों के २१ प्रकारों में पर्याप्त अन्तर है और खास अन्तर है 'कोशवृद्धि' की पूजा का जो सकलचन्द्रजी की कृति में नहीं है।

तिलकपूजा द्वारा कोशवृद्धि :

मालोद्घाटन की उच्छरावलियों और कोशवृद्धि के उपदेशों से भी भक्ति-चैत्यों के नित्य-स्नान-विलेपन के खर्चों की पूर्ति होना संभव नहीं हुआ तो विलेपन पूजा को बन्द कर उनका स्थान तिलक को दिया। विक्रमी १४ वीं शती के उत्तरार्द्ध में विलेपन के बदले ५ अथवा ६ तिलक का आरम्भ हुआ जिसका प्रथम निर्देश श्रीजिनप्रभसूरिकृत 'पूजाविधि' में मिलता है। परन्तु यह सर्वमान्य नहीं हुई और वर्षों की चर्चा के बाद १६ वीं सदी के अन्त में ५ अथवा ६ के एवज ९ तिलक हो गए जिनके स्थान हुए दो चरण, दो जानु, दो हाथ, दो स्कन्ध और मस्तक। परन्तु यहाँ भी मतभेद ने पीछा न छोड़ा। उपरोक्त नौ अङ्गों के अलावा सिर पर भी तिलक करने की हिमायत हुई। इस तरह नौ के एवज दस तिलक पूजा चल पड़ी। परन्तु किसी ने मस्तक को नवाँ अंग माना तो किसी ने ललाट को और इस विवाद के कारण कोई अंगलूछणा के बाद ललाट पर तिलक पहले करने का कहते और फिर नव अंग-पूजन का और आजकल इसकी भी बोलियाँ बोली जाती हैं।

उपसंहार :

इस तरह यह स्पष्ट है कि 'रायपसेणइय' और 'जीवाभिगम' सूत्रों में नए

उत्पन्न होनेवाले देवों की जिनपूजा का ही निरूपण है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में भगवान् ऋषभदेव के देवों द्वारा किए जन्माभिषेक का वर्णन है और ज्ञाताधर्मकथा में कुमारी द्रौपदी के स्वयंवर के प्रसंग पर जिन-पूजन करने का वर्णन है और वह रायपसेणइय के वर्णन से हूबहू मिलता है। ये सभी पूजाएँ खास प्रसंगों पर की गई थीं और सर्वोपचारी थीं। सूत्रों के बाद कुछ भाष्यों में 'स्नानमह' आदि का निरूपण भी सूत्रकाल में ही पड़ता है और इस समय में होनेवाले 'जन्माभिषेक', 'यात्रामहोत्सव' आदि भी सर्वोपचारी के रूप में होते थे जिनकी सूचना हमें सूत्रों की पञ्चाङ्गियों से मिलती है। चौथी शती विक्रमी में होनेवाले वाचक उमास्वातिजी ने 'प्रशमरति' में जो पूजा का विधान किया है, वह गृहस्थधर्मों के सामान्य रूप में है परन्तु उसमें स्नान-विलेपन की कोई सूचना नहीं है। इससे स्पष्ट है कि पूर्वकाल में गृहस्थ अपना कर्तव्य समझकर जिन-पूजा करते थे और वह जलस्नान-विलेपनादि प्रकारों से बिलकुल शून्य होती थी।

मध्यकालीन आचार्यों में श्री हरिभद्रसूरि ने अपने पूजा-विधान वाले दस ग्रन्थों में से तीन में 'सर्वोपचारी पूजा' का भी विधान किया है। फिर भी इनके पश्चात् लम्बे काल तक 'त्रिकोपचारी', 'चतुष्कोपचारी', 'पंचोपचारी', और 'अष्टोपचारी' पूजा का ही प्रचार रहा था। दसवीं-न्यारहवीं विक्रमी शती तक नित्य-स्नान और विलेपन नहीं होते थे। प्रतिष्ठा आदि के प्रसंगों पर उत्सव पर्यन्त सर्वोपचारी भक्ति होकर फिर सदा की पूजा पद्धति चालू हो जाती थी, ऐसा प्राचीन प्रतिष्ठापद्धतियों से ज्ञात होता है। सबसे प्राचीन प्रतिष्ठापद्धति पादलिप्तसूरि की है जिसमें लिखा है कि "प्रति मास एक के हिसाब से वर्षभर के बारह स्नान करके वर्ष की समाप्ति में आठ दिन तक उत्सवपूर्वक विशेष पूजा करे और दीर्घायुष्य के निमित्त एक-एक प्रति वर्ष गांठ दे।" हरिभद्रसूरि ने 'षोडशक' में कहा है कि 'प्रतिमा प्रतिष्ठित होने के बाद उसकी आठ दिन तक अविच्छिन्नता से पूजा करनी चाहिए और आर्थिक स्थिति के अनुसार सर्व प्राणियों को दान देना चाहिए।' श्रीचन्द्रसूरि ने अपनी 'प्रतिष्ठापद्धति' में कहा है कि "प्रतिष्ठा बीतने के बाद प्रति मास एक के हिसाब से प्रथम वर्ष में बारह मासिक स्नान करवाए और वर्ष पूर्ण होने पर आठ दिन विशेष पूजाएँ कर 'आयुर्ग्रन्थि' बाँध ले।" इनसे स्पष्ट है कि श्रीचन्द्रसूरि के समय तक नित्यस्नान-विलेपन का प्रचार नहीं हुआ था। यदि प्रथा चल पड़ी होती तो हर महीने एक स्नान कराने की बात लिखी ही नहीं जाती। १४ वीं सदी तक

के रचित 'प्रतिष्ठाकल्पों' से भी मासिक स्नान की ही सूचना मिलती है। परन्तु इसके बाद प्रतिष्ठाकल्पों का रुख बदल जाता है क्योंकि १५ वीं सदी में और उसके बाद नित्य-स्नान सार्वत्रिक रूढ़ हो गया था। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इसी समय गुजरात में वल्लभकुली वैष्णव संप्रदाय का प्रचार बढ़ रहा था जो नित्यस्नान का प्रचारक भी था। इस तरह महास्नानों में से लघुस्नान और लघुस्नानों में से नित्यस्नान का जन्म हुआ। परन्तु नित्यस्नान बहुव्यापी हो गए और इससे देवद्रव्य-वृद्धि की विविध प्रथाओं का प्रचलन हुआ। वास्तव में मूर्ति का स्नान, पूजा में परिगणित नहीं था। सर्वोपचारी भक्ति के प्रसंग पर मूर्ति को प्रसाधन रूप में स्नान कराकर शरीर पोंछा जाता था। सर्वोपचारी के अतिरिक्त पंचोपचारी तक किसी भी पूजा में जल की आवश्यकता ही नहीं थी। अष्टोपचारी पूजा करते तो जल की आवश्यकता होती। पर वह स्नान के लिए नहीं, पर आचमन की कल्पना से 'जलपात्र' भरकर सामने रखा जाता था। जलपात्र भरकर आगे रखने की पद्धति लगभग अठारहवीं शती तक चलती रही। बाद में जलपात्र अदृश्य हुआ और 'स्नान' को पूजा में स्थान मिला।

आभरणविधि और चक्षुयुगल :

शास्त्र में अवस्था विशेष बताने के लिए जिनमूर्ति को आभरण पहनाने का विधान है। देवों द्वारा सिद्धायतन में की गई जिनपूजा में आभरण चढ़ाने का भी उल्लेख है। परन्तु आजकल तो यह प्रवृत्ति सीमातीत हो गई है। प्रक्षालन करने के समय ही मूर्ति पर से आभरण उतारे जाते हैं और प्रक्षालन होते ही पहना दिए जाते हैं। इसलिए मन्दिरों में चोरियाँ होती हैं। मूर्तियाँ कभी-कभी खंडित तक हो जाती हैं। भक्तों को इसका कोई दुःख नहीं होता और न इस अतिप्रवृत्ति को नियमित करने की चिन्ता ही होती है। रायपसेणइय आदि सूत्रोक्त पूजा विधानों में वस्त्र-युगल पहनाने का विधान आता है। उक्त सूत्रोक्त विधान को पिछले आचार्यों ने गाथाओं में संक्षिप्त करके सत्रहभेदी पूजा की विधि तैयार की। परन्तु ये गाथाएँ 'श्राद्धविधि की टीका' में उद्धृत करते समय 'वस्त्रयुगल' के स्थान में 'चक्षु-युगल' असावधानी से लिखा गया। यह परिवर्तन यदि 'श्राद्धविधिकार' का है तो मुनिश्री की सम्मति में अनागमिक है। यदि यह किसी लेखक की भूल का परिणाम है तो गीताथी द्वारा संशोधन हो जाना चाहिए था। अशुद्धियों की परम्परा के चिरस्थायी हो जाने का एक

अन्य उदाहरण भी मुनिश्री ने दिया है जो प्राकृत व्याकरण का है। वह यहाँ देना समीचीन है। गाथा है :—

दुवयणे बहुवयणं, चउत्थिविभत्तीइ भएणइ छट्ठी ।

दो हत्था दो पाया, नमोत्थु देवाधिदेवाणं ॥

अर्थात् प्राकृत में द्विवचन के स्थान में बहुवचन लिखा जाता है और चतुर्थी के स्थान में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है। जैसे दो हत्था, दो पाया 'द्वौ हस्तौ' और 'द्वौ पादौ' के स्थान में और 'नमोत्थु देवाधिदेवाणं' 'नमोस्तु देवाधिदेवेभ्यः' के स्थान में लिखा जाता है। परन्तु ग्रन्थ सम्पादक ने पूर्वार्द्ध को 'बहुवयणे दुवयणं' इस अशुद्ध रूप में छाप दिया और सागरानन्दसूरि जैसों तक ने इस अशुद्ध पूर्वार्द्ध को शुद्ध नहीं किया जिसकी उन जैसों से अपेक्षा रखना उचित ही था। इसी तरह की भूल 'श्राद्धविधि' वाला पाठ 'चक्खुजुअल' है। मुनिश्री कहते हैं कि 'वत्थुजुअल' के स्थान में 'चक्खुजुअल' हुआ यह तो निश्चित है, परन्तु यह भूल किसके हाथ से हुई होगी, यह निर्णय करना अशक्य है। उपाध्याय श्रीसकलचन्द्रजी ने २१ प्रकारी पूजा बनाई है, उसमें भी तीसरी पूजा 'चक्षु-युगल' की लिखी है जो संभवतया 'श्राद्धविधिकौमुदी' की भूल का परिणाममात्र हो सकता है और हमारा तो अनुमान है कि इसी भूल के परिणाम स्वरूप हमारी श्वेताम्बर-परम्परा में प्रतिष्ठित प्रतिमाओं को बाद में नेत्र लगाने की पद्धति निकली होनी चाहिए। हमारा यह अनुमान सत्य हो तो नेत्र चढ़ाने की प्रवृत्ति 'संबोध-प्रकरण' का निर्माण होने के बाद की और 'श्राद्धविधि-कौमुदी' की रचना से (सं० १५०६) पहले की है।

आभरण और आंगियाँ राज्यावस्था की प्रदर्शक हैं :

आभरण और आंगियाँ चढ़ाकर भगवान् की राज्यावस्था का प्रदर्शन करना उत्सवों अथवा पर्व दिनों में ही शोभा दे सकता है। यह दर्शनार्थी में वैराग्य भाव कभी उत्पन्न नहीं कर सकता है। चैत्यवन्दन करने वाला पिंडस्थ, पदस्थ, और रूपरहितत्व—इन तीन अवस्थाओं की भावनाएँ किस प्रकार करे? आंगियों और आभूषणों के नीचे ढके हुए भगवान् को देखकर 'पदस्थावस्था' अथवा 'रूपरहितावस्था' को तो अवकाश ही नहीं रहता। परन्तु 'पिंडावस्था' के तीन प्रकारों में से 'बाल्यावस्था' और 'श्रमणावस्था' की भावना को भी स्थान नहीं मिलता है। मात्र 'राज्यावस्था' की भावना का चिन्तन करके ही रह जाना पड़ता है जब कि हमारे शास्त्रकार प्रतिदिन तीनों ही अवस्थाओं की

भावना करने का उपदेश करते हैं। “चैत्यवन्दन-महाभाष्य” में श्रीशान्तिसूरि जी कहते हैं—

भावेज्ज अवत्थतियं, पिडत्थ-पयत्थ-रुवरहियत्तं ।

छउमत्थकेवलित्तं, मुत्तत्तं चैव तस्सत्थो ॥

अर्थात् पिडस्थ, पदस्थ और रूपरहितस्थ इन तीन अवस्थाओं की भावना करनी चाहिए। इन तीन अवस्थाओं के पर्याय नाम क्रमशः हैं—छद्मस्थावस्था, केवलित्वावस्था, और मुक्तत्वावस्था। इसी ‘चैत्यवन्दनमहाभाष्य’ में आगे जाकर कहा है कि—

“इस प्रकार जिनबिम्ब पर निश्चल दृष्टि करके शुभ परिणामी मनुष्य को चैत्यवन्दन करते समय भगवन्त की उक्त तीन अवस्थाओं का अच्छी तरह चिंतन करना चाहिए।”

इन अवस्थाओं की भावना का साधन पूर्वकालीन परिकरवाली मूर्तियों में था। परन्तु नित्य स्नान-विलेपन ने परिकर उठवा दिए। प्रातिहार्य ऋद्धि का दर्शन भी चला गया और पदस्थभावना समाप्त हो गई। श्रमणावस्थासूचक निष्केश मस्तक भी सदाकाल मुकुट से ढके ही रहने लगे और मुख भी कुंडलादि से अलंकृत रहने लगे। फलतः दर्शनार्थी के सामने मात्र राज्यावस्था का आकार ही रह गया। सिद्धावस्था के दो आकारों में से पहली पर्यकासन प्रतिमा ही श्वेताम्बर मन्दिरों में होती हैं। परन्तु सदा आंगी से ढकी रहने वाली मूलनायक जी की प्रतिमा की अमूर्तत्वावस्था दृष्टिगोचर नहीं रही और उसकी भावना का प्रतीक भी तिरोहित हो गया।

ये हैं हमारी वर्तमान जिनपूजाविधि के परिणाम। १७ वीं सदी में अष्ट-प्रकारी पूजा में से जलपूजा हट गई और स्नान को ही ‘जलपूजा’ माना जाने लगा तब से सर्वोपचारी पूजाएँ जो पहले प्राकृत और संस्कृत पद्यों से बनी हुई थीं, वे हटीं और उनका स्थान लोकभाषा में गायनों के रूप में बनकर प्रचलित होने वाली अर्वाचीन पूजाओं ने ले लिया। ऐसी पूजाओं में उ० सकलचन्द्रजी की सत्रहभेदी और इक्कीस प्रकारी पूजाएँ ही सबसे पुरानी हैं। नवपदजी की पूजा उ० यशोविजयजी रचित १८ वीं सदी की है, परन्तु नवपद आराधन की भावना का किसी सूत्र में उल्लेख नहीं है। यह १५ वीं सदी के प्रारम्भ में रची प्राकृत ‘सिरीपालकहा’ पर आधारित है। १९ वीं सदी में तो कई तरह की गेय भाषाई पूजाएँ रच दी गई हैं और ये सब आज पर्याप्त प्रचार में भी हैं। इनकी परीक्षा होना भी जरूरी है।

पूर्वकाल की पूजापद्धति अति सुगम और सुखसाध्य थी। जब से सर्वोपचारी पूजा का प्रचार बढ़ा, यह श्रमसाध्य और व्ययसाध्य नहीं बल्कि निष्प्राण सी भी हो गई। पहले यह विशेष परिणामजनक होती थी। परन्तु चौदहवीं सदी से नित्यस्नानविलेपन के प्रचार के पश्चात् इसमें से प्राणतत्व घटता ही गया और सोलहवीं सदी पहुँचते-पहुँचते इसने अनेक अनिष्ट परिणाम उत्पन्न कर दिए जिनमें सबसे अनिष्ट परिणाम हुआ मूर्तिपूजा-विरोधी सम्प्रदाय का उद्भव। मूर्तिपूजा-निमित्तक सामान्य हिंसा के विषय में आचार्य हरिभद्र-सूरि के समय में ऊहापोह हुआ था। इसका श्रुतधर आचार्य श्री को कुए के दृष्टांत से उत्तर देना पड़ा था। तात्कालिक विरोधी स्थिति के समाधान के लिए आचार्यश्री को जिनपूजा के विषय में सबसे अधिक लिखना पड़ा था परन्तु इस विरोध से मूर्तिपूजा को कोई हानि नहीं पहुँची। विक्रमी १३ वीं शती में अंचलगच्छीय आचार्यों ने फल, नैवेद्य, धान्य और दीपक पूजा का विरोध किया, पर उसका भी परिणाम शून्य में ही आया था। परन्तु सर्व प्रतिमाओं के नित्यस्नान-विलेपन की पद्धति दाखिल होने के पश्चात् तो इस विषय की अतिप्रवृत्तियों से लोकमानस में विपरीत भावनाएँ तीव्र से तीव्रतर होती ही गई, क्योंकि उसमें 'उपयोगो धर्मलक्षणम्' की अवहेलना अधिकतम होती जा रही थी। इस विरोध का सेहरा लोकाशाह के सिर पर बँधा हालांकि वे कोई प्रसिद्ध वक्ता और नामांकित विद्वान् नहीं थे। उपलब्ध प्रमाणों से तो यही सिद्ध होता है कि वे शास्त्र-लेखक-व्यवसायी मात्र थे। परन्तु साधारण जनता का अधिक भाग धनवानों की पूजा-विषयक अतिप्रवृत्तियों से ऊब गया था और उसने लोकाशाह के रूप में अपनी आंतरिक विरोध-भावना का विस्फोट कराया। १२ वीं शती में 'नित्यस्नान-विलेपन' का जो देशव्यापी आंदोलन चला उसका ही वह सबसे अधिक अनिष्ट परिणाम था। परन्तु मूर्तिपूजक फिर भी नहीं चेतते और न आज ही चेतते हैं। नवपद-आराधन, उपधान, वर्षीतप आदि-आदि अनेक रूपों में वे प्रवृत्तियाँ धर्म का अनिवार्य आवश्यक अंग बन गईं और बनती जा रही हैं जो लोकमानस को उद्वेलित कर रही हैं। सोलहवीं सदी में मुसलमानी और ईसाईप्रोटेस्टेंट धर्म ने मूर्तिविरोधी प्रेरणा को बल देकर मुखर किया तो आज रूस का साम्यवाद उससे कहीं अधिक मूर्तिविरोध को प्रेरित कर रहा है। हमारी सरकार की अर्थ और धर्मनीति भी आडंबरी प्रदर्शनों के चाहे वे सामाजिक, राजनीतिक अथवा धार्मिक कैसे ही हों, सब के विरुद्ध लोगों को

उकसा रही हैं क्योंकि जीवननिर्वाह कठिनतर से कठिनतम होता जा रहा है । 'भूखे भजन न होहि गोपाला' की भावना जोर पकड़ रही है । भगवान् बुद्ध ने भूखे की भूख मिटा कर धर्म का उपदेश दिया तो संसार में बौद्ध, जैनों से कहीं अधिक हो गए हालांकि बुद्ध को महावीर जितने मानने वाले राजा मिले ही नहीं थे । जैनों ने जैन दीक्षा देकर ही भूखे को अन्न खाने को दिया और वह साधु इतना खा गया कि अजीर्ण से मर गया, परन्तु अंत समय में आराधक होने के कारण उसने अशोक के पौत्र संप्रति के रूप में जन्म लिया । उसने अपने जीवनकाल में अपने दादा की भाँति जैनधर्म-प्रचार करना तो चाहा, परन्तु उस जैसा सफल नहीं हुआ । आज तो हमारा यह भी दृष्टिकोण नहीं है कि जैनधर्मों कोई भी भूखा नहीं रहे । अन्य लोगों के प्रति कष्टनावृत्ति दिखाने की तो पूछना ही क्या । हमारे धार्मिक आडम्बरी उत्सव भी उसी तरह के स्वर्ग के पट्टारूप हो गए हैं जैसे कि मध्ययुग में ईसाई लोग पोप को मुँहमांगी भेंट देकर अपने लिए स्वर्ग का पट्टा लिखाया करते थे । अन्तर है तो बस इतना ही कि यह धन हमारे मंदिरों के भंडार की वृद्धि करता है, हमारे साधुओं की निजी सम्पत्ति आज नहीं होती जैसी कि चैत्यवासियों की हो जाया करती थी । परन्तु इस संचित धन को खर्च कराने में निर्णायक मत आज भी धर्माचार्यों का ही होता और रहता है । ऐसी स्थिति चल नहीं सकती है । समय रहते जैन मुनि और जैन गृहस्थ चेत जाएँ यही कामना है ।

यद्यपि इस लेख की प्रेरणा व सामग्री अधिकांशतया मुनिश्री कल्याणविजय जी की सद्य प्रकाशित पुस्तक 'श्री जिनपूजाविधि-संग्रह' से ही ली गई है, परन्तु इस लेख के लिए सम्पूर्णतया लेखक ही उत्तरदायी हैं और कोई नहीं । मुनिश्री के अभिप्राय को व्यक्त करने में उससे जो भी भूल-चूक और प्रमाद हुआ हो उसके लिए वह मुनिश्री का क्षमाप्रार्थी है ।

कुमार-सिंह वार्ता

श्री फिल्टर

सिंह—कुमार जी ! पर्यूषण पर्व चल रहा है, क्या आपको पता नहीं ?

कुमार—पता है ।

सिंह—यह हमारा सबसे बड़ा पर्व है ।

कुमार—यह भी पता है ।

सिंह—किसी जमाने में इस पर्व में नाई, धोबी, कसाई आदि तक अपना काम बंद रखते थे ।

कुमार—यह भी मुझे पता है ।

सिंह—ईसाई और मुसलमान अपने धार्मिक पर्वों को मनाने में उतने ही उत्साही और पाबन्द पाये जाते हैं जितने हम उपेक्षाभाव लिये हुए और शिथिल ।

कुमार—यह भी मैं जानता हूँ ।

सिंह—इतना सब कुछ समझते हुए यदि आप अपने धर्म के प्रति निरुत्साहित हैं तो सोचिए कितनी बड़ी गलती करते हैं ।

कुमार—सिंह जी ! गलती हम नहीं, हमारे आचार्य कर रहे हैं जो धार्मिक विधि-विधान आदि को समयानुकूल रूप नहीं दे रहे हैं । आप जानते हैं आज के मानव का जीवन कितना व्यस्त है । अपनी छोटी-सी गृहस्थी का उदरपोषण कर पाना भी एक सामान्य जन के लिये अत्यन्त दुस्तर कार्य बन गया है । व्यर्थ नष्ट करने के लिये आज किसी व्यक्ति के पास समय नहीं है ।

सिंह—आप समझदार होकर कैसी बातें कर रहे हैं ! क्या धर्मशास्त्र सुनना समय को नष्ट करना है ?

कुमार—नहीं भाई, आप स्वयं मेरा अभिप्राय नहीं समझे । अपने जीवन को सुसंस्कृत बनाने के लिये धर्मशास्त्रों का पारायण और मनन-चिन्तन नितान्त आवश्यक है, इसमें दो मत नहीं हो सकते । किन्तु व्याख्यान सुनाई

कहाँ देता है । कितना शोरगुल मचा रहता है । आगे-आगे जो पगड़ी-धारी बैठते हैं वे पूरे समय ऊँघते रहते हैं । उनमें से कुछ तो सामायिक क्या ले लेते हैं जैसे ऊँघने के हकदार बन जाते हैं । इन लोगों के पीछे कुछ ऐसे लोग जमे रहते हैं जिनको “तैत बाबजी” और “घणी खम्मा” की आवाजें लगाने से फुरसत मिले तो व्याख्यान में क्या कहा गया इस पर गौर करें । महिलाओं का तो कहना ही क्या ! घर-गृहस्थी के काम में बेचारी बारहों महीने इस तरह जुती रहती हैं जैसे घानी का बैल । किसी के यहाँ जाने-आने नहीं पातीं । जाने की इच्छा करती हैं तो घर वालों की अनुमति नहीं मिल पाती, किन्तु जिन-जिन से वे मिलने की इच्छा रखती हैं, वे सभी सखी-सहेलियाँ पूरे अवकाश और निश्चिन्तता के साथ इस व्याख्यान में मिल जाती हैं, तो फिर खूब जम कर क्यों न छने । बारह महीनों की न जाने कितनी-कितनी बातें इकट्ठी हो जाती हैं वे फूट निकलती हैं इतने वेग के साथ कि एक दिन मैंने व्याख्यान में अपने कान खड़े किये इसलिये कि धर्मशास्त्र के दो बोल उनमें टपकें किन्तु आप यकीन करें न करें, पूरे समय महिलाओं की रामचर्चा ही उनमें उडलती रही । अब आप ही बताइये हम अपना समय यूँ बरबाद कैसे करें !

सिंह—आपको अपना ध्यान रामचर्चा की ओर न लगाकर व्याख्यान में लगाना था ।

कुमार—भाई मेरे, लेकिन गुरु महाराज की आवाज मुझ तक पहुँचे तब तो । माइक का उपयोग करने में पाप समझा जाता है । वरना सबको शास्त्र-प्रवचन अनिवार्यतः सुनना पड़े और ये राम-कहानियाँ सब अपने आप बन्द हो जायें । अच्छा, अब बच्चों का हाल सुनिये । कुछ तो महिलाओं के साथ रहते ही हैं और कुछ वहाँ इकट्ठे होकर आसपास बरामदों में इसलिये दौड़-धूप मचाते रहते हैं कि व्याख्यान समाप्त होने पर प्रभावना ले सकें । मैं कह नहीं सकता कि इन दौड़-धूप करने वाले बच्चों को उनके घर के ही लोग प्रभावना के लालच से मजबूर करके व्याख्यान में भेजते हैं पर यह अवश्य कह सकता हूँ कि जो बच्चे महिलाओं के पास रहते हैं उनका शोरगुल में सबसे ज्यादा हिस्सा रहता है । जब पूरे सभाभवन में शोरगुल का आलम बना रहता है तो भैया, ऐसे लोग भी जो ऊँघने से घबराने के कारण उबासी तक ही सीमित रहते हैं वे भी मन बहलाव के लिये इधर-

उधर की बात चालू किये बिना नहीं रहते । ये लोग उस श्रेणी के हैं जो व्याख्यान में न आवें या बीच में से उठ कर चले जायें तो घर पर माता-पिता की डाँट-फटकार से घबराते हैं और इस कारण हाजरी लगा देना ही उचित समझते हैं । कहिये मैं गलत कह रहा हूँ ?

सिंह—बात तो सोलहो आने सही है ।

कुमार—व्याख्यान क्या एक छोटा-मोटा हाट समझ लीजिए । बस, वस्तुएँ क्रय-विक्रय नहीं होती इतना ही अन्तर रहता है । आप बाहर खड़े होकर कान लगाइये यही मालूम होगा कि भीतर मार्केट गरम है ।

सिंह—यह स्थिति तो सभी बड़ी-बड़ी जगहों और बड़े बड़े साधुओं के व्याख्यानों में देखने को मिलती है किन्तु किया क्या जाय ?

कुमार—करने को क्या नहीं हो सकता । यदि हम यह मानते हैं कि यह हमारा महान् पर्व है और चाहते हैं कि इसे हम बड़े आदर और श्रद्धा के साथ, शान्ति और उत्साह के साथ, ज्ञान और शौकत के साथ मनाएँ तो साधु और श्रावक दोनों को यह स्थिति सुधारने के लिये कटिबद्ध होना पड़ेगा, अन्यथा आज का शिक्षितवर्ग अर्थात् जैन समाज की भावी पीढ़ी तो आज व्याख्यान सुनने ही नहीं आती पर वह कल इसके नाम तक से नाक-भौं सिकोड़ने लगेगी जिसका परिणाम यह होगा कि उनके हृदय में धर्म और धर्माचार्यों के प्रति कोई श्रद्धा शेष नहीं रह जाएगी ।

सिंह—बात आपकी सब सही है किन्तु आपने यह नहीं बताया कि किया क्या जाय !

कुमार—भाई साहब ! कभी मस्जिद में या गिरजाघर में जाकर देखिये कि किस शालीनता के साथ उनके कार्यक्रम संपन्न होते हैं । बुरा न मानियेगा हम हर तरह साधन सम्पन्न होते हुए भी ढंग से नहीं मनाते हैं, ऐसा आपको लगेगा । किसी भी धर्म में, समाज में अथवा व्यक्ति में कोई अच्छाई दिखे हमें सहर्ष अपना लेनी चाहिये, मैं तो इस सिद्धान्त का आदमी हूँ ।

सिंह—आपके इस सिद्धान्त से मैं भी सहमत हूँ, किन्तु गिरजाघर में क्या विशेषता है यह तो बताइये ।

कुमार—देखो भाई ! आज बहुत समय हो गया है । आपको व्याख्यान में जाने में देर हो रही होगी । अगले वक्त जब हम मिलेंगे तब बताऊँगा ।

वीरनन्दी और उनका चन्द्रप्रभचरित

प० अमृतलाल शास्त्री

नामसाम्य :

संस्कृत महाकवियों की परस्परा को जिन्होंने गौरवान्वित किया है, महाकवि वीरनन्दी उन्हीं में से एक हैं। उनकी कृति के रूप में अभी तक केवल चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य ही उपलब्ध हुआ है। आचारसार के कर्ता भी वीरनन्दी हैं, पर वे प्रस्तुत वीरनन्दी से भिन्न हैं; क्योंकि वे आचार्य मेघचन्द्र के शिष्य थे। इनके अतिरिक्त एक और वीरनन्दी हुए जो आचार्य महेन्द्रकीर्ति के शिष्य रहे। अतएव इन तीनों में केवल नाम का ही साम्य है।

गुरुपरम्परा :

चन्द्रप्रभचरित के अन्त में जो प्रशस्ति^१ पाई जाती है, उससे यह स्पष्ट है

- १ बभूव भव्याम्बुजपद्मबन्धुः पतिर्मुनीनां गणभूत्समानः ।
सदग्रणीर्देशिगणाग्रगण्यो गुणाकरः श्रीगुणनन्दिनामा ॥१॥
गुणग्रामाम्भोधेः सुकृतवसतेर्मन्त्रमहसा-
मसाध्यं यस्यासीन्न किमपि महीशासितुरिव ।
स तच्छिष्यो ज्येष्ठः शिशिरकरसौम्यः समभवत्
प्रविख्यातो नाम्ना विबुधगुणनन्दीति भुवने ॥२॥
मुनिजननुतपादः प्रास्तमिथ्याप्रवादः
सकलगुणसमृद्धस्तस्य शिष्यः प्रसिद्धः ।
अभवद् अभयनन्दी जैनधर्माभिनन्दी
स्वमहिमजितसिन्धुर्भव्यलोकैकबन्धुः ॥३॥
भव्याम्भोजविबोधनोद्यतमतेर्भास्वत्समानत्विषः
शिष्यस्तस्य गुणाकरस्य सुधियः श्रीवीरनन्दीत्यभूत् ।
स्वाधीनाखिलवाङ्मयस्य भुवनप्रख्यातकीर्तौः सतां
संसत्सु व्यजयन्त यस्य जयिनो वचः कुतकाङ्कुशाः ॥४॥
शब्दार्थसुन्दरं तेन रचितं चारुचेतसा ।
श्रीजिनेन्दुप्रभस्येदं चरितं कुमुदोज्ज्वलम् ॥५॥

कि इसके लेखक—वीरनन्दी के गुरु आचार्य अभयनन्दी थे। वे अपने समय के समस्त मुनियों के द्वारा मान्य थे। उन्होंने जैनधर्म के विषय में परम्परागत मिथ्या प्रवादों को दूर किया था। उनके द्वारा जैनधर्म की बड़ी प्रभावना हुई थी। वे समुद्र की भाँति गम्भीर एवं सूर्य की भाँति तेजस्वी थे। वे अत्यन्त गुणी तथा मेधावी थे। वे भव्य जीवों के एक मात्र बन्धु और उद्बोधक थे।

आचार्य अभयनन्दी के गुरु विबुध गुणनन्दी थे। वे बड़े यशस्वी थे। वे अपने सतीर्थ्यों में सबसे बड़े थे—अपने गुरु के प्रधान शिष्य थे। उनकी प्रकृति चन्द्रमा की भाँति सौम्य थी।

विबुध गुणनन्दी के गुरु का नाम गुणनन्दी था। वे भव्य पुरुषों के अनन्य विकासक एवं मुनिसंघ के नायक थे। मुनिसंघ में उनकी मान्यता गणधर जैसी थी। वे अत्यन्त सज्जन थे। देशीयगण में वे प्रथमतः गणनीय थे। वे अत्यन्त गुणी तथा पुण्यात्मा थे। फलतः राजा की भाँति उनके लिए भी कुछ असाध्य नहीं था।

निष्कर्ष यह कि महाकवि वीरनन्दी के गुरु, दादा गुरु तथा परदादा गुरु तीनों ही नन्दिसंघ के अत्यन्त प्रभावशाली असाधारण विद्वान् थे। वीरनन्दी को असाधारण विद्वत्ता भी उनकी विशिष्ट गुरु-पराम्परा के अनुरूप थी।

विद्वत्ता :

वीरनन्दी की विशिष्ट विद्वत्ता का एक अनुमान इसी से लग जाता है कि वे आचार्य अभयनन्दी के शिष्य थे। वीरनन्दी ने अपने बुद्धिबल से समस्त वाङ्मय को आत्मसात् कर लिया था—वे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र थे। वे कुशल वक्ता एवं सफल शास्त्रार्थी विद्वान् थे। सम्य व्यक्तियों की सभाओं में उन्हीं की बात मानी जाती थी। प्रवादियों के कुतर्क उनके प्रबल युक्तिबल एवं अतुल शास्त्रबल के सामने शिथिल पड़ जाते थे। इसी कारण उनका यश भी खूब था।

प्रभाव :

अभयनन्दी के शिष्य होने के नाते वीरनन्दी और नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती सतीर्थ्य्य थे, फिर भी सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र उनसे प्रभावित रहे। अन्यथा

वे अपनी कृति—कर्मकाण्ड में उनका तीन बार^१ उल्लेख न करते। नेमिचन्द्र सिद्धान्तशास्त्र के अप्रतिम विद्वान् थे। वे अपने सहाध्यायी का मङ्गलाचरण के प्रसङ्गों में स्मरण करें यह साधारण बात नहीं है। प्रसिद्ध दार्शनिक और विशिष्ट महाकवि वादिराजसूरि ने अपने काव्य में नामोल्लेख पूर्वक इनकी कृति की सराहना की है^२। कवि दामोदर ने अपनी कृति—चन्द्रप्रभचरित में इन्हें 'कवीश' बतलाया है और वन्दन भी किया है^३। पण्डित गोविन्द ने अपनी कृति के प्रारम्भ में इनका उल्लेख धनञ्जय, असग और हरिश्चन्द्र से भी पहले किया है और इनके काव्य को उक्तियों और युक्तियों से विभूषित बतलाया है^४। पण्डितप्रवर आशाधर ने इनके चन्द्रप्रभचरित से एक श्लोक^५ उद्धृत कर सागारधर्ममृत के न्यायोपात्त.....इत्यादि श्लोक (१।११) में आये हुए कृतज्ञता गुण पर प्रकाश डाला है।

जीवन्धरचम्पू और धर्मशर्माभ्युदय के रचयिता सरस्वतीपुत्र प्रतिभामूर्ति कायस्थ महाकवि श्री हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय की रूपरेखा चन्द्रप्रभचरित को सामने रखकर बनाई। दोनों महाकाव्यों की मङ्गलाचरणपद्धति, पुराणों के आश्रय की सूचना, दार्शनिक चर्चा एवं धर्मदेशना - आदि को देखकर कोई भी

^१ जस्स य पायपसायेण णंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो ।

वीरिदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं ॥४३६॥

णमिऊण अभयणंदि सुदसायरपारगिदणंदिगुरुं ।

वरवीरणंदिणाहं पयडीणं पच्चयं वोच्छं ॥७८५॥

णमह गुणरयणभूसणसिद्धंतामियमहद्धिभवभावं ।

वरवीरणंदिचदं णिम्मलगुणमिदणंदिगुरुं ॥८९६॥

^२ चन्द्रप्रभाभिसंबद्धा रसपुष्टा मनःप्रियम् ।

कुमुद्वतीव नो धत्ते भारती वीरनन्दिनः ॥१।३०—पार्वनाथचरित

^३ चन्द्रप्रभजिनेशस्य चरितं येन वर्णितम् ।

तं वीरनन्दिनं वन्दे कवीशं ज्ञानलब्धये ॥ १।१९ चन्द्रप्रभचरित

^४ श्री वीरनन्दिदेवो धनञ्जयासगो हरिश्चन्द्रः ।

व्यधुरित्याद्याः कवयः काव्यानि सद्भक्तियुक्तीनि ॥२२॥ पुरुषार्थानुशासन
(ये दोनों पद्य 'जैनग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह' के पृष्ठ ७० व १२७ से उ० हैं)

^५ विधित्सुरेनं तदिहात्मवश्यं कृतज्ञतायाः समुपैहि पारम् ।

गुणैरुपेतोऽप्यपरैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकम् ॥ ४।३८

सहृदय यह जान सकता है कि हरिचन्द्र ने वीरनन्दी के महाकाव्य को अथ से इति तक एकाधिक बार पढ़ा था । धर्मदेशना के कतिपय श्लोकों के चरण-के-चरण मिलते हैं—

जीवाजीवास्त्रवा बन्धसंवरावथ निर्जरा ।

मोक्षश्चेति जिनेन्द्राणां सप्ततत्त्वानि शासने ॥—१८।२ चन्द्रप्रभचरित

जीवाजीवास्त्रवा बन्धसंवरावपि निर्जरा ।

मोक्षश्चेति तत्त्वानि सप्त स्युर्जिनशासने ॥—२१।८ धर्मशर्माभ्युदय

रूपगन्धरसस्पर्शशब्दान् पुद्गलः स्मृतः ।

अणुस्कन्धप्रभेदेन द्विस्वभावतया स्थितः ॥ १८।७८ च० च०

रूपगन्धरसस्पर्शशब्दवन्तश्च पुद्गलाः ।

द्विधा स्कन्धाणुभेदेन त्रैलोक्यारम्भहेतवः ॥ २१।९० ध० श०

यः कषायोदयात्तीव्रः परिणामः प्रजायते ।

चारित्रमोहनीयस्य कर्मणः सोऽनुवर्णितः ॥ १८।८८ च० च०

कषायोदयतस्तीव्रपरिणामो मनस्विनाम् ।

चारित्रमोहनीयस्य कर्मणः कारणं परम् ॥ २१।९९ ध० श०

इतना साम्य अकस्मात् नहीं हो सकता । यदि अनुक्रम और भाव की समानता पर ध्यान दिया जाय तो दोनों की आधी धर्मदेशना एक जैसी ही सिद्ध होगी । धर्मशर्माभ्युदय की धर्मदेशना का जितना अंश चन्द्रप्रभचरित की धर्मदेशना से अधिक है वह अन्य ग्रन्थों से, जिनमें तत्त्वार्थसूत्र व हेमचन्द्र का योगशास्त्र भी हैं, प्रभावित है । इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि वे कायस्थ थे । वे उच्च कोटि के कवि थे । कवित्व की चमत्कृति की दृष्टि से उनका आसन न केवल जैन, वरन् जैनेतर कवियों से भी ऊँचा है, किन्तु सिद्धान्तशास्त्र के मर्मज्ञ नहीं थे जैसे कि वीरनन्दी थे ।

आचार्य गुणभद्र का उत्तरपुराण प्रस्तुत दोनों महाकवियों के सामने रहा, यह सुनिश्चित है । इसमें चन्द्रप्रभ का चरित २७६ श्लोकों में पूर्ण हुआ है । इनमें कुछ श्लोकों^१ (२६२-२६६) में दार्शनिक चर्चा भी है । ऐसी स्थिति में

^१ नास्तिकाः पापिनः केचिद् दैष्टिकाश्च हतोद्यमाः ।

त्वदीयास्त्वास्तिका धर्म्याः परत्र विहितोद्यमाः ॥२६२॥

सर्वत्र सर्वदा सर्व सर्वस्त्वं सार्वसर्ववित् ।

प्रकाशयति नैवेन्दुर्भानुर्वान्येषु का कथा ॥२६३॥

वीरनन्दी को भी अपनी कृति में दार्शनिक चर्चा छोड़ना नितान्त आवश्यक था । प्रस्तुत पुराण में धर्मनाथ का चरित केवल ५४ श्लोकों में पूरा कर दिया गया है । उनमें ऐसा एक भी श्लोक नहीं जिसमें दार्शनिक चर्चा आई हो । फिर भी हरिचन्द्र ने अपनी कृति को सर्वाङ्गसुन्दर बनाने के लिए चतुर्थ सर्ग में, जो अन्य सभी सर्गों से सुन्दर है, चार्वाक दर्शन का खण्डन किया है । निश्चय ही इस दार्शनिक प्रसङ्ग का प्रेरक चन्द्रप्रभ के द्वितीय सर्ग का दार्शनिक प्रसङ्ग रहा है, जिसमें लगभग ६५ श्लोकों में तत्त्वोपप्लव आदि अन्य दर्शनों की मीमांसा की गई है ।

अतः यह निश्चित है कि हरिचन्द्र भी वीरनन्दी से प्रभावित हुए हैं ।

बाणभट्ट ने हर्षचरित में भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है—‘भट्टार हरिचन्द्रस्य गद्यबन्धोनृपायते ।’ कुछ विद्वान् इन्हें और धर्मशार्माभ्युदय के लेखक हरिचन्द्र को एक समझते हैं, जो भ्रममूलक है । धर्मशार्माभ्युदयकार का अभी तक कोई गद्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ और न उनकी ‘भट्टार’ उपाधि ही थी । धर्मशार्माभ्युदय के लेखक ने अपनी प्रशस्ति में लिखा है कि वे रसध्वनि के मार्ग में सार्थवाह हैं—‘रसध्वनेरध्वनि सार्थवाहः’ । ध्वनि सम्प्रदाय के आविष्कर्ता नवमी शताब्दी में हुए, अतः हरिचन्द्र न बाण के पूर्ववर्ती हो सकते हैं और न आनन्दवर्धन के, जिन्होंने ध्वनिमार्ग पर प्रथमतः प्रकाश डाला है । चम्पू-काव्य की रचना दसवीं शती में हुई, अतः हरिचन्द्र उसके बाद ही हुए; क्योंकि उन्होंने जीवन्धरचम्पू की रचना की है । हरिचन्द्र ने धर्मशार्माभ्युदय के अन्तिम सर्ग में मिथ्यात्व का लक्षण लिखा है—

अदेवे देवबुद्धिर्यां गुरुधीरगुरावपि ।

अतत्त्वे तत्त्वबुद्धिश्च तन्मिथ्यात्वं विलक्षणम् ॥१३१॥

न स्थिरं क्षणिकं ज्ञानमत्र शून्यमनीक्षणात् ।

वस्तु प्रतिक्षणं तत्त्वान्यत्वरूपं तवेक्षणात् ॥२६४॥

अस्त्यात्मा बोधसद्भावात् परजन्मास्ति तत्स्मृतेः ।

सर्वविच्चास्ति धीवृद्धेस्त्वदुपज्ञमिदं त्रयम् ॥२६५॥

द्रव्याद् द्रव्यस्य वा भेदं गुणस्याप्यवदद्विधीः ।

गुणैः परिणतिं द्रव्यस्यावादीस्त्वं यथार्थदृक् ॥२६६॥ /

—उत्तरपुराण, पर्व ५४

इसे हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में यों लिखा है—

अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या ।

अधर्मं धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात् ॥२।३

इसी तरह योगशास्त्र और धर्मशर्माभ्युदय के खरकर्म सम्बन्धी श्लोक भी मिलते-जुलते हैं। अतएव हरिचन्द्र को हेमचन्द्र का अव्यवहित उत्तरवर्ती मानना होगा। फलतः ये वीरनन्दी से प्रभावित हुए हैं—यह मानने में कोई आपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती।

समय :

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने अपने जिस गोम्मटसारकर्मकाण्ड में वीरनन्दी का उल्लेख किया है उसकी रचना चामुण्डराय की प्रेरणा से की गई थी। चामुण्डराय गंगवंशीय राजा राजमल्ल के प्रधान मन्त्री व सेनापति थे। उन्होंने चैत्र शुक्ला पञ्चमी रविवार २२ मार्च सन् १०२८ में श्रमणबेलगोल में गोम्मटस्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा भी की थी। अतः वीरनन्दी का भी वही समय सिद्ध होता है।

कृति :

महाकवि वीरनन्दी की एकमात्र कृति है चन्द्रप्रभचरित जो संस्कृत-भाषा निबद्ध है। इसके अठारहों सर्गों के कुल श्लोकों की संख्या १६९१ है। कवि प्रशस्ति के ६ श्लोक अलग हैं। सभी सर्गों के अन्तिम श्लोकों में 'उदय' शब्द आया है, अतः यह काव्य उदयाङ्क है। इसकी रचना सरल और सरस है।

कथावस्तु :

प्रस्तुत महाकाव्य में अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ का चरित वर्णित है। इसी लिए इसका नाम 'चन्द्रप्रभचरितम्' रखा गया। इसके प्रारम्भ के १५ सर्गों में चन्द्रप्रभ के पिछले ६ भवों (जन्मान्तरों) का और अन्त के ३ में वर्तमान भव का शिक्षाप्रद जीवनवृत्त दिया गया है। वर्तमान भव के केवल गर्भ-कल्याणक का १६ वें, जन्म, तप और ज्ञान—इन तीन कल्याणकों का १७ वें तथा मोक्षकल्याणक का वर्णन अन्तिम अठारहवें सर्ग में प्रस्तुत किया गया है। चन्द्रप्रभ की दिव्य देशना भी इसी सर्ग में दी गई है। महाकाव्योचित अन्यान्य विषयों का आलङ्कारिक वर्णन प्रसङ्गानुसार यथा स्थान किया गया है।

आधारः

चन्द्रप्रभचरित की कथावस्तु का मुख्य आधार उत्तरपुराण है, जिसके ५४वें पर्व में चन्द्रप्रभ के कुल मिला कर सात भवों का वर्णन है। इसी के अन्त में केवल एक ही अनुष्टुप् में उन सातों भवों के नाम अनुक्रम से दिये गये हैं—

श्रीवर्मा^१ श्रीधरोदेवो^२ऽजितसेनो^३ऽच्युताधिपः ।

पद्मनाभो^४ऽहमिन्द्रो^५ऽस्मान् पातु चन्द्रप्रभ^६ः प्रभुः ॥२८६॥

महाकवि वीरनन्दी ने उत्तरपुराण के क्रम के अनुसार अपने महाकाव्य में चन्द्रप्रभ का जीवनवृत्त लिखा है और अन्त में एक शार्दूल विक्रीडित में क्रमशः सातों भवों का उल्लेख किया है—

यः श्रीवर्मनृपो बभूव विबुधः सौधर्मकल्पे तत-
स्तस्माच्चञ्जितसेनचक्रभृद्भूद्यश्चाच्युतेन्द्रस्ततः ।

यश्चाजायत पद्मनाभनृपतिर्यो दैजयन्तेश्वरो

यः स्यात्तीर्थकरः स सप्तमभवे चन्द्रप्रभः पातु नः ॥६॥

उत्तरपुराण के उक्त श्लोक ने न केवल वीरनन्दी को बल्कि पण्डित-प्रवर आशाधर^१ और दामनन्दी^२ आदि को भी प्रभावित किया है।

वीरनन्दी के सामने उत्तरपुराण के साथ जिनसेन का हरिवंश पुराण भी रहा है; क्योंकि चन्द्रप्रभ की कुछ बातों का उत्तरपुराण से और कुछ का हरिवंश से साम्य है।

चन्द्रप्रभचरित में चन्द्रप्रभ के पाँच कल्याणकों में से केवल जन्म और मोक्ष-इन दो की मितियाँ दी गई हैं। जन्मकल्याणक की मिति पौषकृष्णा एकादशी है जो प्रस्तुत दोनों पुराणों के अनुरूप है, पर मोक्षकल्याणक की

१. श्रीवर्मा श्रीधरो देवोऽजितसेनोऽच्युताधिपः ।

पद्मनाभोऽहमिन्द्रोऽभूद्योऽव्याच्चन्द्रप्रभः स नः ॥१०॥त्रिषष्टिस्मृति शास्त्र

२. श्रीवर्मा श्रीधरः स्वर्गोऽजितसेनोऽच्युतः सुरः ।

पद्मनाभोऽहमिन्द्रो यस्तं वन्देऽहं शशिप्रभम् ॥८३॥ पुराणसारसंग्रह

३ तथापि तस्मिन् गुरुसेतुवाहिते सुदुष्प्रवेशेऽपि पुराणसागरे ।

यथात्मशक्ति प्रयतोऽस्मि पोतकः पथीव यूथाधिपतिप्रवर्तिते ॥

मिति भाद्रपद शुक्ला सप्तमी दी गई है। चन्द्रप्रभ के समवसरण में विक्रिया-ऋद्धिधारियों की संख्या चौदह हजार बतलाई है। यह संख्या उत्तरपुराण के अनुकूल है। हरिवंश में दस हजार चारसौ लिखी है। इस प्रकार अनेक प्रसङ्ग ऐसे हैं जो यह बतलाते हैं कि वीरनन्दी ने उत्तरपुराण के साथ हरिवंश पुराण आदि ग्रन्थों का भी साहाय्य लेकर अपने महाकाव्य की रचना की। लगता है इसीलिए वीरनन्दी ने किसी एक पुराण का नाम न लेकर 'पुराण-सागरे' इस सामान्य शब्द का प्रयोग किया है।

विशेषता:

जिसमें मानव जाति का हित निहित हो उसे शास्त्र कहते हैं। काव्य के साथ में भी शास्त्र शब्द (काव्यशास्त्र) का प्रयोग होता है। इसका प्रधान लक्ष्य है कठिन से कठिन विषयों का सार लेकर अत्यन्त सरल और सरस शब्दों में शिक्षा देकर मानव जाति का हित करना। काव्य की भाषा अलङ्कृत रहती है अतः उससे मनोरञ्जन भी हो जाता है। जैनतर काव्यों में जिसे नायक बनाया जाता है उस के जन्मान्तरों का वर्णन नहीं किया जाता, पर जैन काव्यों में किया जाता है। चन्द्रप्रभचरित भी इसका एक उदाहरण है। इससे शिक्षा मिलती है कि चन्द्रप्रभ अपने पिछले भवों में साधारण मानव रहे पर पुरुषार्थ करने से वे तीर्थङ्कर बन गये। उन्हीं की तरह पुरुषार्थ करने से कोई भी जीव उन्हीं जैसा बन सकता है। आत्मा के उत्कर्ष को प्राप्त करने के लिए अनेक जन्मों का प्रयत्न आवश्यक है।

काव्य की आत्मा रस है और प्रधान रस है शृङ्गार। जैनतर कुछ काव्य ऐसे हैं जिनमें शृङ्गार की बाढ़ में उनकी अन्यान्य शिक्षाएँ घास-फूस की शोपड़ियाँ बन कर बह गईं। वीरनन्दी ने ऐसे शृङ्गार की उपेक्षा की, और शान्तरस की मुख्यता प्रदान की। यों प्रसङ्गतः अन्य रस भी प्रयुक्त हुए हैं पर वे अङ्ग बन कर रह गये, अङ्गी नहीं बन सके। अलङ्कार शास्त्र के निर्देशानुसार काव्यकार को चारों पुरुषार्थों की शिक्षा देनी चाहिए। इस दृष्टि से भी वीरनन्दी अधिक सफल हुए हैं। उनका चन्द्रप्रभचरित उच्चकोटि का काव्य है।

पउमचरियं : संक्षिप्त कथावस्तु

डा० के० रिषभचन्द्र

(गताङ्क से आगे)

सीताहरण :

४३. लक्ष्मण एक बार मनमोहक पवन के प्रसरण से आकृष्ट होकर उस वायु की दिशा की ओर चल पड़ते हैं। आगे बढ़ने पर उन्हें एक बाँस का झुरमुट मिलता है जहाँ पर एक दिव्य खड्ग लटक रही थी। वे उस शस्त्र की परीक्षा करने के लिए उसको उस झुरमुट पर चलाते ही हैं कि उसमें से एक कटा हुआ सिर बाहर आ गिरता है। इस भयानक घटना के कारण वे तुरन्त राम के पास लौट आते हैं और उनको सब बातें कह सुनाते हैं। उधर रावण की भगिनी चन्द्रनखा अपने पुत्र शम्बूक से मिलने जाती है जो एक दिव्य खड्ग (सूर्यभास) प्राप्त करने की इच्छा से दण्डकारण्य में तपश्चर्या करने गया हुआ था। अपने पुत्र को उस स्थान पर मृत पाकर वह आतंकित हो जाती है। हत्यारों की खोज में वह राम और लक्ष्मण को देखती है। उनकी सुन्दरता पर मोहित होकर वह राम के साथ शादी करने का प्रस्ताव करती है। उस स्त्री के इस प्रकार के व्यवहार से वे आश्चर्यचकित हो जाते हैं। उनसे किसी प्रकार का सम्मान न पाकर वह हताश होकर क्रुद्धावस्था में अपने घर लौट जाती है।

४४. वह अपने पति खरदूषण को राम और लक्ष्मण को मारने के लिए उकसाती है, क्योंकि उन्होंने उनके पुत्र शम्बूक की हत्या की थी तथा यह झूठा आक्षेप भी लगाती है कि उन्होंने उसके साथ अनुचित व्यवहार करने की कुचेष्टा की थी। खरदूषण इस वृत्तान्त को सुनकर जल उठता है। वह इस सम्बन्ध में रावण के पास संदेश भेजता है तथा स्वयं अपनी सेना के साथ उस दुर्घटना-स्थल पर युद्ध के लिए पहुँचता है।

लक्ष्मण उसका सामना करने चल पड़ते हैं। वे राम को सीता की निगरानी के लिए पीछे छोड़ देते हैं और साथ ही साथ राम को आगाह करते

हैं कि यदि उन्हें कोई खतरा आ पड़े तो वे सिंहनाद करेंगे जिसे सुनकर राम उनकी सहायता के लिए तत्काल चले आवेंगे ।

इतने में रावण भी वहाँ पर आ पहुँचता है । सीता की सुन्दरता को देखते ही वह भ्रान्तचित्त हो जाता है और उसे अपनी स्त्री बनाने की इच्छा से पीड़ित होता है । अपनी कामना की पूर्ति के लिए वह विद्याबल से वहाँ की सभी परिस्थितियों को जान लेता है और तब वह कृत्रिम सिंहनाद करता है । राम तुरन्त ही सीता को जटायु के संरक्षण में छोड़कर लक्ष्मण की सहायता करने चल पड़ते हैं । अवसर पाते ही रावण सीता पर झपटता है और उसे बलपूर्वक अपने पुष्पक विमान में बिठा देता है । बीच में जटायु का अवरोध होता है परन्तु उसका वह वहीं पर खातमा कर देता है और लंका की ओर तेजी के साथ प्रस्थान करता है । रास्ते में अपने पूर्वव्रत के कारण वह सीता पर किसी प्रकार की जबरदस्ती नहीं करता है ।

उधर अचानक राम को देखकर लक्ष्मण चकित हो जाते हैं । वे तुरन्त सीता के योगक्षेम का पता लगाने के लिए राम को वापिस भेज देते हैं । लौटने पर राम को सीता नहीं मिलती और जटायु को दुर्दशा में पाते हैं । उसी क्षण जटायु के प्राणों का अन्त हो जाता है । सीता के खो जाने के कारण राम परिताप और शोकसागर में निमग्न हो जाते हैं ।

४५. इधर विराधित नाम का एक विद्याधर जो खरदूषण का शत्रु था, लक्ष्मण की सहायतार्थ वहाँ पर आ पहुँचता है । लक्ष्मण खरदूषण को मारकर उस विद्याधर को राम के पास ले जाते हैं । लक्ष्मण सीता के खोजने की खबर पाकर दुःखित होते हैं । विराधित अपनी सेना के योद्धाओं को सीता की खोज करने की आज्ञा देता है परन्तु सीता का कोई पता नहीं चलता । उधर रावण के मार्ग में खेचर रत्नजटि बाधा उपस्थित करता है । परन्तु रावण उसको हराकर द्रुतगति से आगे बढ़ता है । सीता रुदन करती रहती है परन्तु रावण को उसकी क्या पड़ी थी । इधर विराधित राम और लक्ष्मण की सुरक्षा के लिए उन्हें पातालंकारपुर ले जाता है । वहाँ पहुँच वे चन्द्रनखा और उसके दूसरे पुत्र सुन्द को वहाँ से भगा देते हैं । चन्द्रनखा और सुन्द लंका में शरण लेते हैं ।

४६. उसी अवसर पर रावण भी लंका पहुँच जाता है । वह सीता को देवरमण नामक उद्यान में ठहराता है । रावण चन्द्रनखा से मिलता है तथा

उसको सान्त्वना देकर अपनी रानी मन्दोदरी को सीता को फुसलाने के लिए उसके पास भेजता है। मन्दोदरी सीता को रावण के साथ शादी करने के लिए राजी करने में विफल होती है। रावण भी कई प्रकार से सीता को डराता-धमकाता है परन्तु सीता अटल रहती है। तब रावण सीता के निवास का प्रबन्ध अशोक वृक्षों से आच्छादित पद्मवर नामक उद्यान में कर देता है। रावण को ऐसी कामपीड़ा से संतप्त देखकर विभीषण लंका नगरी की रक्षा के लिए सभी प्रकार की तैयारियाँ करवा देता है।

सुग्रीव से मैत्री :

४७. बानर आदित्यराज का द्वितीय पुत्र तथा बालि का कनिष्ठ भ्राता सुग्रीव किष्किन्धिपुर से दण्डकारण्य में भटकता हुआ खरदूषण के शव को देखता है तथा राम व लक्ष्मण का वृत्तान्त प्राप्त करता है। तब वह अपने मंत्री जम्बूनद के साथ राम से सहायता प्राप्त करने की इच्छा से पातालंकार पुर जाता है। जम्बूनद राम को बतलाता है कि कोई एक दानव सुग्रीव का प्रच्छन्न रूप धारण करके सुग्रीव की स्त्री सुतारा (तारा) से अपना संबंध स्थापित करने के लिए हलचल मचाये हुए है। उस नकली सुग्रीव को भगाने के लिए श्रीपुर के राजा हनुमान को भी बुलाया गया था, परन्तु वह सच्चे और नकली सुग्रीव को पहिचानने में असफल होने के कारण वापिस लौट गया। इस पर राम सहायता करने का वचन देते हैं तथा सुग्रीव से सीता की खोज करने के लिए प्रार्थना करते हैं। वहाँ से सभी किष्किन्धिपुर चले जाते हैं। प्रथम द्वन्द्वयुद्ध में राम दोनों सुग्रीवों को ठीक से नहीं पहिचानने के कारण सच्चे सुग्रीव को ही पीछे से मार गिराते हैं। दूसरी बार जैसे ही राम लड़ने के लिए आते हैं वैसे ही नकली सुग्रीव की विद्याएँ अदृश्य हो जाती हैं और वह अपनी सही आकृति में विद्याधर साहसगति के रूप में प्रकट हो जाता है। राम उसको अपने बाण से मार गिराते हैं तथा सुतारा सुग्रीव को सौंप दी जाती है। इस खुशी में सुग्रीव अपनी सोलह कन्याओं को राम की सेवा में समर्पित करता है, परन्तु सीता के वियोग में राम को किसी प्रकार की सान्त्वना नहीं मिलती।

४८. सुग्रीव अपने आनन्द में राम का कार्य भूल जाता है। इस पर लक्ष्मण उसको सचेत करते हैं। तब वह अपने योद्धाओं को सभी दिशाओं में सीता की खोज के लिए भेजता है और एक दूत को राम के पत्र के साथ

भामंडल के पास । वह स्वयं भी सीता की खोज में निकल पड़ता है । बीच में विद्याधर रत्नजटि से उसकी भेंट होती है । वह उसे राम के पास ले जाता है । रत्नजटि स्पष्ट बतलाता है कि रावण ने सीता का अपहरण किया है । रावण का नाम सुनते ही सभी वानर भयग्रस्त हो जाते हैं तथा रावण की शक्ति का सामना करने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं । राम और लक्ष्मण इस अवसर पर उनको प्रोत्साहन देते हैं तब जम्बूनद राम को एक भविष्यवाणी के संबंध में बतलाता है कि मुनि अनन्तवीर्य ने एक बार कहा था कि जो पुरुष पवित्र कोटिशिला को उठाएगा वही रावण को मारेगा । यह सुनकर लक्ष्मण तुरन्त संबंधित स्थल पर जाते हैं तथा कोटिशिला को उठाकर वापिस लौट आते हैं ।

हनुमान का दूत-कार्य :

४९. इस घटना से वानरों में उत्साह की लहर दौड़ आती है । सर्वप्रथम युद्ध के बदले शान्तिमय उपाय का सहारा लिया जाता है, अतः रावण के ही जामाता हनुमान को वहाँ पर बुलाया जाता है । उसे शान्तिदूत का कार्य सौंपा जाता है कि वह लंका जाकर रावण को समझावें । राम अपनी अंगूठी सीता को देने के लिए हनुमान को देते हैं तथा सीता के पास से उस की चूडामणि लाने को कहते हैं । हनुमान कतिपय योद्धाओं के साथ लंका की ओर प्रस्थान करता है ।

५०. अपने मार्ग में महेन्द्रनगर पहुँच कर वहाँ के राजा अपने नाना महेन्द्रराज को वह शिक्षा देता है, क्योंकि उन्होंने भी उसकी माता अंजना का बहिष्कार किया था जिस समय उसकी सास ने उस पर चरित्र-दोष का आक्षेप लगाकर उसे घर से निकाल दिया था ।

५१. फिर हनुमान की सलाह से महेन्द्रराज अपनी पत्नी तथा अपने पुत्र प्रतिसूर्य के साथ राम के पास जाता है और अपनी पुत्री अंजना से मिलता है । आगे हनुमान दधिमुख द्वीप के राजा गंधर्व से भेंट करता है तथा उसको साहसगति की मृत्यु का समाचार देता है । गंधर्व अपनी पुत्रियों का विवाह राम के साथ करवाने के लिए चल पड़ता है, क्योंकि ऐसी भविष्यवाणी हुई थी कि साहसगति को मारने वाला उनका पति होगा ।

५२. हनुमान आगे लंकापुरी के दुर्ग के मुख्य रक्षक वज्रमुख को युद्ध में

मार गिराता है। उसकी पुत्री लंका सुन्दरी हनुमान के रूप-सौन्दर्य पर मोहित हो जाने के कारण उसकी चिर प्रेमिका बन जाती है।

५३. गणधर गौतम कथा को आगे बढ़ाते हुए बतलाते हैं कि दूसरे दिन हनुमान लंका में प्रवेश करके विभीषण से मिलता है और उससे सलाह करने पर मालूम होता है कि रावण विभीषण के समझाने पर भी अपनी जिद्द पर डटा हुआ है और सीता को मुक्त करने के लिए तैयार नहीं है। तब हनुमान पद्मउद्यान में जाकर सीता से भेंट करता है। वह उसको राम की अँगूठी और उनकी कुशलता का संदेश देता है। इतने में रावण की पटरानी मन्दोदरी वहाँ पर पहुँचती है। वह हनुमान को राम का पक्ष लेने के लिए फटकारती है। मन्दोदरी और सीता भी आपस में झगड़ पड़ती हैं तब हनुमान बीच में पड़ता है और मन्दोदरी वहाँ से उदास होकर लौट जाती है। सीता हनुमान के साथ यानी पर पुरुष के साथ राम के पास जाने के लिए तैयार नहीं होती। वह अपनी चूड़ामणि भेजती है और राम स्वयं आकर उसे ले जायें ऐसी इच्छा प्रकट करती है। वहाँ से प्रस्थान करते समय हनुमान की मुठभेड़ रावण के योद्धाओं से हो जाती है। वह उन सबको भगा देता है और इस संघर्ष में उद्यान का सर्वनाश हो जाता है। तत्पश्चात् वह कई प्रासादों को क्षति पहुँचाता हुआ अपनी शक्ति का परिचय देने के लिए रावण के महल में प्रवेश करता है। इन्द्रजित् उसको बन्दी बनाकर रावण के सम्मुख पेश करता है। राम के साथ उसके गठबन्धन के लिए रावण उसकी भर्त्सना करता है और उसको उपयुक्त सजा देने के लिए अपने पुरुषों को आज्ञा देता है। इस पर हनुमान अपने बन्धनों को तोड़कर भाग जाता है।

— क्रमशः

यज्ञ : एक अनुचिन्तन

श्री सुदर्शनलाल जैन

जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि जिस समय भगवान् महावीर और बुद्ध ने जन्म लिया था उस समय वेदविहित हिंसा-प्रधान यज्ञों का प्रचलन धर्म के रूप में इतनी अधिक मात्रा में था कि प्रत्येक आवश्यक क्रियाओं की सफलता के लिये इन यज्ञों को करना आवश्यक समझा जाता था। जैसे पुत्रप्राप्ति के लिए, धन की प्राप्ति के लिए, युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए आदि^१। इस युग को कर्मकाण्डी ब्राह्मण युग कहा जाता है जिसमें पौरोहित्यवाद ने जोर पकड़ा तथा पुरोहित (पुजारी) देवों के तुल्य समझे जाने लगे।^२ वेदों को नित्य, अपौरुषेय एवं ईश्वरप्रदत्त मानने की प्रवृत्ति का भी उदय इसी काल में हुआ।^३ परम पुरुष के निःश्वास के रूप में भी इनकी प्रसिद्धि हुई।^४ जो इनका ज्ञाता होता था वही पण्डित कहलाता था तथा समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता था^५। यज्ञान्न प्राप्त करने का भी अधिकारी वेदविद् ब्राह्मण ही समझा जाता था^६। ब्राह्मण लोग यज्ञों में निरपराध एवं मूक पशुओं का हनन व हवन यह कह कर किया करते थे कि वेदविहित हिंसा, हिंसा नहीं कहलाती है : वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति तथा इसके संदर्भ में

^१ जइत्ता विउले जन्ने, भोइत्ता समणमाहणे ।

दत्ता भोच्चा य जिट्ठा य, तओ गच्छसि खत्तिया ॥

उत्तराध्ययन ९।३८

^२ बौद्धदर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, भरतसिंह उपाध्याय, पृ० ७३९
तथा शतपथब्राह्मण २।२।२।६; २।४।३।१४

^३ वही " " ऋग्वेद १।३७।४; ३।१८।३

^४ " " " शतपथब्राह्मण १।१।५।८१;

बृहदारण्यक २।४।१० एवं पुरुषसूक्त

^५ इस विषय में जैन और बौद्ध आगम ग्रन्थों को देखिए ।

^६ उत्तरा० २५।७, ८ एवं १२।११

औषधि, पशु, वृक्ष, तिर्यञ्च और पक्षी यज्ञ में होम की विधासे मृत्यु को प्राप्त होकर स्वर्ग को प्राप्त करते हैं^१। पशु वगैरह की सृष्टि यज्ञ में हवन करने के लिए ही हुई है^२। एक तरफ गाय में ३३ करोड़ देवताओं का निवास मानते थे और दूसरी तरफ धर्म के नाम पर यज्ञमण्डप में उसके करुण-क्रन्दन करते रहने पर भी हिंसा किया करते थे। ज्ञान-पुञ्जरूप ऋग्वेद में यज्ञ के यथार्थ रूप का दर्शन देवों की आराधना के रूप में होता है परन्तु कालान्तर में ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ को एक जादू-टोना का रूप प्राप्त हुआ जो यज्ञ प्रक्रिया की एक अवनति थी^३ तथा वेदविहित धर्म को कलुषित करना था। किस तरह वेदविहित धर्म को इन धूर्त मांस-लोलुप वेद के व्याख्याकारों ने अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञों में धर्म के नाम पर अगणित निरपराध प्राणियों की हिंसा करके, कलुषित किया तथा स्वयं पतित होकर दूसरों को भी पतितचारा में प्रवृत्त कराया, इसका वर्णन हम आगे करेंगे। सर्वप्रथम हम यह जान लें कि इन ब्राह्मण ग्रन्थों में जिनमें यज्ञ-याग का ही-सविस्तार वर्णन है, किस तरह यज्ञ करने की प्रथा थी तथा यज्ञ में कौन-कौन से उपकरण होते थे ?

यज्ञ के अवसर पर एक यज्ञमण्डप बनवाया जाता था जिसके बीच में यज्ञ-वेदिका होती थी जहाँ प्रज्वलित अग्नि में आहुतियाँ दी जाती थीं। इन यज्ञों का सम्पादन चार विशिष्ट व्यक्ति ऋत्विज मिलकर करते थे जो चारों वेदों के विशिष्ट ज्ञाता कहलाते थे। उनके नाम और कार्य निम्न प्रकार से थे —

(१) होता ऋत्विज यह यज्ञ के समय विशिष्ट मंत्रों द्वारा देवता का आह्वान करता था। उन विशिष्ट मंत्रों का संकलन ऋग्वेद में होने से यह ऋग्वेद का पूर्णज्ञाता होता था।

(२) अध्वर्यु ऋत्विज — यज्ञों का विधिवत् सम्पादन करना इसका कार्य है। इस विषय के ज्ञान के लिए आवश्यक मंत्रों का संकलन यजुर्वेद-संहिता में होने से, यह ऋत्विज यजुर्वेद का पूर्णज्ञाता होता था।

^१ औषधयः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ।

यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितं पुनः ॥ शतपथब्राह्मण ॥

^२ यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः ।

^३ वैदिक संस्कृति का विकास, लक्ष्मण शास्त्री जोशी, पृ० ४२

(३) उद्गाता ऋत्विज—इसका कार्य है कि उच्च एवं मधुर स्वर से ऋचाओं का गान करे। सामवेद में ऐसी ऋचाओं का संकलन है। अतः यह ऋत्विज सामवेद का पूर्णज्ञाता होता था।

(४) ब्रह्मा ऋत्विज—यह सम्पूर्ण यज्ञ का निरीक्षण करता है जिससे यज्ञ में किसी प्रकार की त्रुटि न रहे। अतः इसे समग्र वेदों का ज्ञान होना जरूरी था। अथर्ववेद का संकलन इसी ऋत्विज के निमित्त है क्योंकि वेद तीन ही हैं 'त्रयी वेदाः'।^१ अतः यह ऋत्विज मुख्यरूप से अथर्ववेद का ज्ञाता होता था।

'यज्ञ' शब्द 'यज्' पूजार्थक धातु से निष्पन्न होता है अतः 'इज्यते ऽनेनेति यज्ञः' जिसके द्वारा हवन-पूजन किया जाय उसे यज्ञ कहते हैं। इस प्रकार यज्ञ एक प्रकार का कर्म है, कर्म चाहे शुभरूप हो या अशुभरूप हो दोनों संसार भ्रमण में कारण हैं तथा संसारभ्रमण दुःख का हेतु है। यह सम्पूर्ण संसार-चक्र यज्ञ की प्रक्रिया से ही प्रचलित है। तथा हमारी जो भी क्रियाएँ हैं वे सभी एक प्रकार की यज्ञ क्रियाएँ ही हैं। परन्तु ब्राह्मण ग्रंथों में प्रचलित 'यज्ञ' शब्द एक विशिष्ट क्रिया का द्योतक है। इन यज्ञों को द्रव्य और भाव के भेद से दो भागों में विभाजित किया जाता है। द्रव्य-यज्ञ के पुनः दो मुख्य भेद हैं : श्रौतद्रव्ययज्ञ और स्मार्तद्रव्ययज्ञ। इनके क्रमशः स्वरूप निम्न प्रकार हैं—

श्रौतद्रव्ययज्ञः—जिनमें जंगम और स्थावर जीवों की बलि दी जाती है उन्हें श्रौतद्रव्य-यज्ञ कहते हैं। जैसे अश्वमेध, वाजपेय, ज्योतिष्टोम आदि। ये यज्ञ बहुत खर्चीले पड़ते थे^२। अतः साधारण जनता इन यज्ञों को नहीं कर सकती थी। इन यज्ञों में अनेक पशुओं की निर्मम हत्याएँ होती थीं। इस तरह धर्म के नाम पर हिंसा का बहुत प्रचार देखकर तत्कालीन तत्त्व-मनीषियों ने घोर खण्डन किया। यद्यपि एक सुनिश्चित धर्म-परम्परा के विरुद्ध जाने का किसी को साहस न होता था परन्तु विरुद्ध विचारों को प्रकट करते हुए भी वेद को प्रमाण मानते रहे। वेद को प्रमाण मानने वाले

^१ बौ० दर्शन और अ० भा० दर्शन, भरतसिंह पृ० ७३९ तथा ऋग्वेद १।३।७।४; ३।१।८।३

^२ यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः, गीता ३-१४।

^३ उत्तरा० १२।१०।

भारतीय दर्शनों में जो परस्पर विरोध है यह उन मनीषियों की चतुरता है । अतः उपनिषदों में तथा भगवान् महावीर और बुद्ध ने इस वैदिक कर्मकाण्ड की तीव्र आलोचना की । भगवान् महावीर और बुद्ध इस वैदिक कर्मकाण्ड और वेद प्रामाण्य के प्रबलतम विरोधी थे तथा उनके स्थान पर अहिंसाप्रधान धर्म का प्रचार करने वालों में श्रेष्ठतम थे । बौद्धों पर याज्ञिक क्रियाकाण्ड की इतनी प्रतिक्रिया हुई कि उन्हें आत्मा शब्द से ही घृणा हो गई । चूँकि आत्मा के निमित्त से स्वर्ग की प्राप्ति के लिए लोगों को प्रलोभित किया जाता था अतः उस शाश्वत आत्मतत्त्व को रागद्वेष की अमरवेल मानकर उसका खण्डन ही कर दिया ।^१ जैन और बौद्ध ग्रन्थों में इन यज्ञों के खण्डन में जो तर्कपूर्ण युक्तियाँ प्रदर्शित की गई हैं उन्हें देखकर कोई भी सहृदय व्यक्ति पुनः इन यज्ञों की तरफ देखने का साहस न करेगा । स्याद्वादमञ्जरी में एक कारिका उद्धृत है —

देवोपहारव्याजेन यज्ञव्याजेन ये ऽथवा ।

घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा घोरां ते यान्ति दुर्गतिम् ॥

अर्थात्—जो लोग देव-प्रसादार्थ अथवा यज्ञ के बहाने घृणा से रहित होकर प्राणियों (जन्तुओं) को हिंसा करते हैं वे घोर अन्धकार से पूर्ण दुर्गति में जाते हैं ।

वावरि ब्राह्मण का शिष्य पुष्पक भगवान् बुद्ध से निम्न प्रश्न पूछता है—
‘भगवन् ! किस कारण से ऋषियों, मनुष्यों, क्षत्रियों, ब्राह्मणों ने इस लोक में देवताओं के लिए पृथक्-पृथक् यज्ञ कल्पित किए हैं ? यह पूछता हूँ भगवन् ! बतावें ।’

भगवान् बुद्ध—‘जिन किन्हीं ऋषियों, मनुष्यों, क्षत्रियों, ब्राह्मणों ने इस लोक में देवताओं के लिए पृथक्-पृथक् यज्ञ कल्पित किए हैं, उन्होंने इस जन्म की चाह रखते हुए जरा आदि से अमुक्त होकर ही किए ।’

पुष्पक—‘जिन किन्हीं ने यज्ञ कल्पित किए, भगवन् ! क्या वे यज्ञ-पथ में अप्रमादी थे ? हे मार्ष, क्या वे जन्म-जरा को पार हुए ? हे भगवन् ! आप से यह पूछता हूँ । मुझे बतावें ।’

भगवान् बुद्ध—‘वे जो आशंसन करते, स्तोम करते, अभिजल्प करते, हवन करते हैं सो लाभ के लिए कामों को ही जपते हैं । वे यज्ञ के योग से, भव के राग से रक्त हो जन्म-जरा को पार नहीं हुए, ऐसा मैं कहता हूँ ।’

^१ प्रमाणवातिक १।२।१९-२१, २५.

पुण्णक—‘हे मार्ष ! यदि यज्ञ के योग से, यज्ञों के द्वारा जन्म-जरा को पार नहीं हुए, तो मार्ष, फिर लोक में कौन देव जन्म-जरा को पार हुए ? हे भगवान् ! उसे बतलावें ।’

भगवान् बुद्ध—जिसे लोक में कहीं भी तृष्णा नहीं है, जो शान्त, दुश्चरित रहित, रागादि से विरत, आशारहित है, वह जन्म-जरा को पार कर गया, ऐसा मैं कहता हूँ ।^१

इस तरह भगवान् बुद्ध के अनुसार वैदिक कर्मकाण्ड विशुद्धि-साधक नहीं है, वह तो सिर्फ लेन-देन रूपी व्यापार की भावना पर प्रतिष्ठित है । अर्थात् ‘तुम मुझे यह दो, मैं तुम्हें यह देता हूँ’ इस प्रकार की प्रवृत्तियों से सम्पूर्ण याज्ञिक विधान प्रतिष्ठित है ।^२

इसी तरह औपनिषदिक ऋषियों का भी विश्वास याज्ञिक विधान में दृष्टिगोचर नहीं होता है । वे यागादि क्रियाओं को यद्यपि परमार्थप्राप्ति में आवश्यक नहीं समझते हैं^३ तथापि अधिकारीभेद से आश्रम-धर्म की व्यवस्था के लिए उनका पूर्ण निराकरण भी नहीं करते हैं । इस तरह उनकी प्रवृत्ति एक तरफ समन्वयात्मक है^४ और दूसरी तरफ निन्दात्मक ।^५ जैसे कहीं-कहीं पुरोहितों की खाने-पीने की लोलुपता को देखकर उनको एवं उनके याज्ञिक क्रिया-कलापों को एक घृणा की वस्तु बताया गया है । एक स्थान पर तो उन्हें कुत्तों की एक पाँत में खड़े जैसे भी दिखाया है । वे लोलुपतापूर्वक कहते हैं—‘ओमदा ओम् पिवा, ओम देवो वरुणः आदि (ॐ मुझे खाने दो, ॐ मुझे पीने दो, देव वरुण) ।^६ इस लेन-देन के व्यापार के कारण ही देवों का भी दर्जा बहुत निम्न और लोलुपतापूर्ण दिखलाई पड़ता है । गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसका अच्छा वर्णन किया है जिसमें इन्द्र को ‘श्वान’ की उपमा दी गई है । इससे वैदिक देवों की प्रतिष्ठा पर धक्का पहुँचता है ।

^१ सुत्तनिपात (पुण्णक-माणवपुच्छा) ५।३ ।

^२ वाजसनेयिसंहिता ३।५०, शतपथ-ब्राह्मण २।५।३।१९ ।

^३ यज्ञादि से हमें स्वर्ग की प्राप्ति भले ही हो जावे परन्तु उससे परमार्थ की प्राप्ति नहीं होती है । देखिये, छान्दोग्य १।१।१०; बृहदारण्यक १।५।१६, ६।२।१६; प्रश्न १।९; मुण्डक १।२।१० ।

^४ कठ १।१७; ३।२, श्वेताश्वतर २।६-७ आदि ।

^५ बृहदारण्यक १।४।१०; ३।९।६, २१ ।

^६ छान्दोग्य १।१।२।४, ५ ।

वेद को प्रमाण मानने वाले सांख्याचार्यों ने इन यज्ञों की निन्दा करते हुए कहा है—

यूपं छित्त्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकदमम् ।

यद्येवं गम्यते स्वर्गं नरके केन गम्यते ॥

अर्थ—यूपादि (वृक्षादि) का छेदन करके, पशुओं की हिंसा करके तथा खून का कीचड़ करके यदि स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो वह कौन-सा घोर कर्म है जिसके करने से नरक जाया जाता है। तथा सांख्यकारिका के प्रारम्भ में दैहिक, दैविक और भौतिक दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय व्यावहारिक (औषधादि) साधनों की तरह श्रौतविहित यज्ञप्रक्रिया को नहीं माना है—

दृष्टवदानुश्रविकः सहाविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥२॥

अर्थ—लौकिक (दृष्ट) उपायों की तरह श्रुतिविहित यज्ञ भी दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं करा सकते क्योंकि श्रुतिविहित यज्ञ विशुद्धि से रहित, क्षय और अतिशय से युक्त हैं^१। इसके विपरीत प्रकृति-पुरुष का ज्ञान ही श्रेयकारी है।

वेद को ही प्रमाण स्वीकार करने वाले वेदान्तियों ने भी हिंसाप्रधान यज्ञों की निर्ममता देखकर कहा कि जो लोग पशुओं की हिंसा करके यज्ञ करते हैं वे घोर अन्धकार में विलीन हो जाते हैं क्योंकि हिंसा न तो कभी धर्म रही है, न है और न रहेगी।

अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्यै यंजामहे ।

हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति ॥

इस तरह वेदान्तियों ने हिंसाप्रधान धर्म का त्रिकालिक निषेध करके अहिंसा-प्रधान धर्म की प्रतिष्ठापना की।

यशस्तिलकचम्पू में एक प्रसङ्ग आता है जिसमें राजा यशोधर आटे का कल्पित मुर्गा बनाकर बलि चढ़ाते हैं जिसके फलस्वरूप वे कई भवों तक संसार में परिभ्रमण करते हैं। इस कल्पित मुर्ग की बलि से यह बतलाया गया है कि जब कल्पित पशु की बलि इतनी अनिष्टकर हो सकती है तो साक्षात्पशु की बलि चढ़ाने से क्या दुर्गति होगी इसकी कल्पना नहीं की जा सकती है।

^१ देखिए, सांख्यकारिका पर गौडपादभाष्य।

एक अन्य संवाद जैन 'पद्मपुराण' में आता है^१ जिसमें नारद और पर्वत के बीच 'अजैर्यष्टव्यम्' शब्द के अर्थ को लेकर विवाद उत्पन्न हो जाता है। तब वे दोनों सलाह करके उचित निर्णय कराने के लिए राजा वसु के पास अग्रिम दिन जाते हैं। उस समय राजा वसु सत्यवादी था तथा उसके प्रभाव से उसका सिंहासन पृथ्वी से ऊपर उठा रहता था। राजदरबार में पहुँचकर दोनों अपने-अपने पक्षानुसार 'अजैर्यष्टव्यम्' का अर्थ बताते हैं—

(१) नारद—'अज से यज्ञ करना चाहिए' का अर्थ है—'उस प्रकार के धान्य (धान) से यज्ञ (हवन) करना जिसमें सहकारी कारण मिलने पर भी अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति वर्तमान न हो।'

(२) पर्वत—'अज से यज्ञ करना चाहिए' का अर्थ है—'बकरे की बलि चढ़ाकर यज्ञ (हवन) करना।'

राजा यद्यपि 'अज' शब्द का अर्थ कई बार धान्यविशेष कर चुके थे परन्तु किसी एक वचनबद्धता के कारण पर्वत के पक्ष में अपना निर्णय दे देते हैं। फलस्वरूप राजा का सिंहासन पृथिवी पर गिर पड़ता है और राजा वसु ७वें नरक में जाकर अनन्त कष्टों को झेलते हैं। इस प्रसङ्ग में सिर्फ इतना ही बताया है कि 'अज' शब्द का अर्थ बकरा नहीं है अपितु धान्य विशेष है जिसमें अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति क्षीण हो चुकी है। 'अज' शब्द का मिथ्या बकरा अर्थ करना मात्र दुर्गति का कारण हो जाता है तब फिर पशु-यज्ञ कैसे धर्म कहे जा सकेंगे।

यह पशु-यज्ञ की प्रथा अनार्य, मांस-लोलुप, ब्राह्मणों द्वारा प्रचलित की गई। जैसा कि महाभारत में कहा है—

'सुरा मत्स्या मधु-मांसमासवं कृसरौदनम् ।

धूतैः प्रवर्तितं ह्येतन् नैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥'

महाभारत, शान्तिपर्व २६५।९ ॥

चूँकि संसारी प्राणी स्वभाव से विषयासक्त होते हैं फिर यदि उन्हें इस प्रकार का उपदेश मिल जाय तो शीघ्र ही उसे ग्रहण कर लेते हैं। फलस्वरूप पशु-यज्ञों का प्रचलन बढ़ गया। परन्तु जो आर्य ब्राह्मण थे उनमें यह बात नहीं थी। उनका आदर्श ऊँचा था। बौद्ध ग्रन्थ सुत्तनिपात के ब्राह्मण धम्मिक सुत्त में जो ब्राह्मणों का आचरण बतलाया है वह बड़ा ही उच्च एवं आदर्शमय है—

^१ पर्व ४१, श्लोक ४१ से १०५।

‘यथा माता पिता भाता अञ्जे वापि च ज्ञातका ।
गावो नो परमामित्ता यासु जायन्ति ओसधा ॥
अन्नदा वलदा चेता वण्णदा सुखदा तथा ।
एतमत्थवसं जत्वा नासु गावो हर्निसु ते ॥’

अर्थ—माता, पिता, भाई और अन्य नातेदारों की तरह गायें भी हमारी मित्र हैं क्योंकि खेती उनपर निर्भर है। वे अन्न, बल, कान्ति एवं सुख देने वाली हैं। ऐसा सोचकर प्राचीन काल में गायों की हत्या नहीं करते थे। यहाँ पर हम ‘बौद्धदर्शन और अन्य भारतीय दर्शन’^१ से एक प्रसङ्ग उद्धृत करते हैं—

‘हम भगवान् की उन पूर्व ऋषियों के प्रति आदर बुद्धि का प्रकाशन और कर दें जो कि एक अत्यन्त सरल ढंग से यज्ञ करते थे और जिनके आचरण अत्यन्त पवित्र थे। ये ऋषि संभवतः संहिता काल के ही हो सकते हैं, क्योंकि इसी युग में इस प्रकार का सरल यज्ञमय विधान प्रचलित था। कुछ-कुछ इसे हम ब्राह्मण युग का भी परिचायक कह सकते हैं। पुराने ऋषि संयमी प्रौर तपस्वी होते थे। पाँच कामगुणों को छोड़ वे अपना अर्थ (ज्ञान, ध्यान) करते थे। उस समय ब्राह्मणों के पास न पशु थे, न हिरण्य, न अनाज। वे स्वध्यायरूपी धन-धान्य वाले थे। ब्रह्मनिधि का पालन करते थे। नाना रंग के वस्त्रों, शयन और आवसथों (अतिथि शालाओं) से समृद्ध जनपद-राष्ट्र उन ब्राह्मणों को नमस्कार करते थे। ब्राह्मण अबध्य, अजेय, धर्म से रक्षित थे, कुलद्वारों पर उन्हें कभी कोई नहीं रोकता था।…………वे तण्डुल, शयन, वस्त्र, घी और तेल को मांगकर धर्म के साथ निकालकर यज्ञ करते थे। यज्ञ-उपस्थिति होने पर वे गाय को नहीं मारते थे।^२ ब्राह्मणत्व की महिमा का कितना सुन्दर प्रस्थापन है, साथ ही वैदिक युग के निर्व्याज समाज और पशु-हिंसा के अभाव का कितना बड़ा साक्ष्य भी।’

‘पशु हिंसामयी निकृष्ट तपस्या तो बुद्ध को ही नहीं सभी भारतीय मनीषियों के लिए घृणा की वस्तु है, किन्तु वास्तविक ‘द्रव्ययज्ञ’ को भगवान् घृणित वस्तु नहीं समझते थे और अधिकतर प्रवृत्ति तो उनकी यज्ञादिकों को नैतिक व्याख्या प्रदान करने की थी जैसी कि उपनिषदों की आध्यात्मिक व्याख्या प्रदान करने की थी।^३

— क्रमशः

^१ ले० भरतसिंह उपाध्याय, द्वितीय भाग पृ० ७३८, ७४२, ७४३।

^२ सुत्तनिपात (धम्मियसुत्त ब्राह्मण) तथा अंगुत्तरनिकाय-द्रोणसुत्त।

^३ देखिए, बौद्ध दृष्टिकोण के लिए दीर्घनिकाय-कूटदंतसुत्त तथा सुत्तनिपात।

अपनी बात



प्राकृत व जैनविद्या की उपेक्षा क्यों ?

प्राचीन भारतीय साहित्य प्रधानतः तीन भाषाओं में उपलब्ध है : संस्कृत, पालि और प्राकृत। संस्कृत भाषा में समस्त वैदिक साहित्य के अतिरिक्त जैन और बौद्ध साहित्य भी प्रचुर मात्रा में हैं। भारतीय भाषाओं में संस्कृत साहित्य निःसन्देह सर्वाधिक है। पालि में प्राचीन बौद्ध साहित्य उपलब्ध है। प्राचीन जैन साहित्य की भाषा प्राकृत है। प्राकृत साहित्य पालि साहित्य की अपेक्षा अधिक विशाल है। पालि में केवल स्थविरवादी बौद्ध परम्परा का त्रिपिटक तथा उसका पूरक साहित्य उपलब्ध है। प्राकृत में ईस्वी पूर्व ६०० से लेकर ईस्वी सन् १८०० तक लिखा गया लौकिक एवं लोकोत्तर अनेक विषयों से सम्बन्धित विशाल साहित्य है। विशालता एवं विविधता की दृष्टि से प्राकृत साहित्य का संस्कृत साहित्य के समकक्ष स्थान है। संस्कृत साहित्य की ही भाँति प्राकृत साहित्य में भी भारतीय जीवन की समस्त भावनाएँ अभिव्यंजित हुई हैं। भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के सम्यक् परिज्ञान के लिए प्राकृत साहित्य का अध्ययन भी अनिवार्य है।

भारतीय विश्वविद्यालयों में संस्कृत साहित्य के अध्ययन-अध्यापन एवं अनुसन्धान-प्रकाशन की पर्याप्त सुविधाएँ हैं। किसी-किसी विश्वविद्यालय में पालि साहित्य के विषय में भी ये सब सुविधाएँ प्राप्त हैं। खेद है कि इन विश्वविद्यालयों में प्राकृत साहित्य की उपेक्षा ही रही है। इतना ही नहीं, जैनदर्शन एवं जैनधर्म के प्रति भी विश्वविद्यालयों ने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया है। प्राकृत एवं जैनविद्या के स्वतन्त्र विभाग एवं विभागाध्यक्ष की बात तो दूर ही रही, इसके लिए साधारण अध्यापक की व्यवस्था भी विश्व-विद्यालयों में नहीं है। काशी विश्वविद्यालय हिन्दू संस्कृति के ज्ञान-विज्ञान का प्रतीक एवं केन्द्र माना जाता है। इसमें भारतीय विद्या के अध्ययन-अध्यापन के लिए एक स्वतन्त्र महाविद्यालय भी है। आश्चर्य है कि इसमें भारतीय विद्या के एक महत्त्वपूर्ण प्राचीन अंग जैनविद्या एवं प्राकृत के अध्ययन-अध्यापन के लिए विश्वविद्यालय की ओर से कोई व्यवस्था नहीं है। भारतीय संसद् की आकलन समिति ने भी खेद व्यक्त करते हुए इस ओर विश्वविद्यालय का ध्यान आकृष्ट किया है। वाराणसी में एक विश्वविद्यालय और है जिसका नाम है वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय। अलग-अलग भाषाओं के

लिए अलग-अलग विश्वविद्यालय खड़े करना कहाँ तक उचित है, इस प्रकार की मनोवृत्ति का क्या दुष्परिणाम होता है एवं ऐसे विश्वविद्यालयों से जनता के धन का किस प्रकार दुरुपयोग होता है—इसकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है। हां, विभिन्न भाषाओं एवं विषयों के लिए विशेष संस्थानों की स्थापना अवश्य ही प्रशंसनीय है। यहाँ इतना ही अभिप्रेत है कि संस्कृत विश्वविद्यालय में भी प्राकृत व जैनदर्शन की उपेक्षा ही की गई है। संस्कृत के विभिन्न विभागों का संगठन तो वहाँ है ही, पालि व बौद्धदर्शन का भी सुव्यवस्थित विभाग है जिसमें विभागाध्यक्ष आदि पदों की सम्यक् व्यवस्था है। नाम के लिए प्राकृत व जैनदर्शन विभाग भी खोल तो दिया है किन्तु निम्नतम वेतनक्रम में एक अध्यापक की नियुक्ति करके विश्वविद्यालय ने अपने कर्तव्य की इतिथी कर दी है। इसी प्रकार के उदाहरण अन्य विश्वविद्यालयों में भी मिल सकते हैं।

प्रश्न यह है कि प्राकृत एवं जैनविद्या के प्रति भारतीय विश्वविद्यालयों का उपेक्षाभाव क्यों है? इसके कई कारण हैं। साधारणतया भारतीय विद्या के मनीषी संस्कृत साहित्य को ही भारतीय साहित्य एवं वैदिक ज्ञान-विज्ञान को ही भारतीय विद्या समझते हैं। उनकी दृष्टि में प्राकृत एवं जैनविद्या कभी आती ही नहीं। वे कभी यह सोचने का कष्ट ही नहीं करते कि संस्कृत एवं वैदिक ज्ञान-विज्ञान की ही भाँति प्राकृत एवं जैनविद्या का भी भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं सभ्यता में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे अपनी संकुचित अथवा साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के कारण प्राकृत व जैनविद्या को साम्प्रदायिक एवं हीन समझते हैं। इतना ही नहीं, जैनदर्शन एवं प्राकृत के अध्यापकों को भी हीनता की दृष्टि से देखते हैं। विश्वविद्यालय अथवा महाविद्यालय के गठन में उनका कोई महत्त्व नहीं समझा जाता। उनकी सर्वत्र उपेक्षा ही होती है। यदि उन्हें कहीं कोई महत्त्व प्राप्त होता है तो वह केवल व्यक्तिगत परिचय, व्यवहार अथवा अनुग्रह के कारण ही। पालि व बौद्ध ज्ञान-विज्ञान का जो थोड़ा-बहुत प्रचार व सम्मान दृष्टिगोचर होता है वह अधिकांशतः राजनीतिक कारणों से ही है। जैनों का राजनीतिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है।

विश्वविद्यालयों में प्राकृत व जैनविद्या का महत्त्व तभी स्थापित हो सकता है जब इसके लिए संस्कृत आदि के ही समकक्ष स्वतन्त्र विभाग कायम हों। केवल एक-दो सामान्य अध्यापकों की नियुक्ति से यह कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। इसके लिए अन्य विभागों की ही तरह विभागाध्यक्ष आदि सब पदों की व्यवस्था होनी चाहिए। साथ ही स्नातक, स्नातकोत्तर आदि समस्त कक्षाओं में प्राकृत व जैनदर्शन के विशेष पाठ्यक्रम निर्धारित किए जाने चाहिए एवं उनके अध्यापन का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए। इन विषयों के विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति आदि सुविधाएँ जैन संस्थाओं को पर्याप्त मात्रा में देनी चाहिए।



मोलिडिंग पाउडर.....प्रेसराइट

बटन.....फूलछाप

टूल्स.....बरार टूल्स

कुछ भी मांगिए

श्रेणी में प्रमुख है

बनाने वाले :—

रतनचन्द हरजसराय (प्लास्टिक्स)

प्रा० लि०

फरीदाबाद

सितम्बर १९६६

श्रमण

रजि. एल. १३२२

OUR LATEST PUBLICATION

STUDIES IN
HEMACANDRA'S DEŚĪNĀMAMĀLĀ

By

Dr. HARIVALLABH C. BHAYANI

Professor of Linguistics

Gujarat University, Ahmedabad

Price : Rs. 3-0-0

**P. V. RESEARCH INSTITUTE
JAINASHRAM
HINDU UNIVERSITY, VARANASI-5.**

Edited and Published by Dr. Mohan Lal Mehta,
Director, P. V. Research Institute, Varanasi-5

Printed at B.H.U. Press, Varanasi-5